अपनी ओर से

'समाज और जीवन' पुस्तक पाठकों के हाथों में है। पाठक देखेंगे कि जीवन की और समाज की जो समस्याएं हमारा ध्यान आकर्षित कर रही हैं या जिनका धुंधला-स्पष्ट-अस्पष्ट चित्र हमारे सामने रहता है उनकी चर्चा इसके लेखों में आई है। लेखकों में विशिष्ट वे ही हैं जिनका समाज और जीवन की समस्याओं के चिन्तन से गहरा सम्बन्ध रहा है। मैं समझता हूं, ये लेख पाठकों को पसन्द आएंगे और चिन्तन का मौका भी देंगे।

अधिकतर लेख जैनजगत के पिछले अंकों में ही संकलित किए गए हैं। कुछ लेखों में पुनः संशोधन करना पड़ा है। विनोबाजी का '[illegible] का धर्म' शान्ति-यात्रा से लिया गया है। सम्पादक उन सब लेखकों के प्रति कृतज्ञ है जिनके लेखों का उपयोग किया गया है और जिन्होंने अपनी अनुमति प्रदान कर उत्साह बढ़ाया है।

पुस्तक का प्रकाशन भारत जैन महामण्डल द्वारा संचालित 'श्री रतनचन्द मुनोत ग्रन्थमाला' की ओर से हो रहा है। यह उसका प्रथम पुष्प है।

भारत जैन महामण्डल असाम्प्रदायिक संस्था है और सब धर्मों के प्रति समन्वय भावना उसका ध्येय है—फिर भी विशेष रूप से वह श्रमण संस्कृति की समस्याओं को अधिक छूता है। इस संग्रह के अधिकतर लेख श्रमण संस्कृति से ही सम्बन्धित हैं।

[illegible] जैन [illegible] नागपुर महाविद्यालय [illegible]

भाई ए० जी० नन्दनवार ने मुख-चित्र बनाया है। निकटता
धन्यवाद भेद को पैदा करने वाला हो जाता है। वह कला का उपास
है और स्नेह उसका हार्दिक है। उसकी कला उत्तरोत्तर प्रगति पर है
यह उसकी रुचिका प्रमाण है।

संपादन और मुद्रण की जिम्मेदारी मेरी ही रही है—और इ
कारण त्रुटियों का उत्तरदायित्व मेरा ही हो जाता है। अशुद्धियों के लि
पाठकों से क्षमा प्रार्थी हूँ।

अगर पाठकों का सहयोग मिला तो ऐसे ही दूसरे प्रकाशन भ
पाठकों को भेंट किए जायेंगे।

एक बात और। महामण्डल के प्रकाशन व्यापार की दृष्टि से नहीं
विचार-जाग्रति की दृष्टि से ही किए जाते हैं और इसीलिए कीमत भ
कम-से-कम रखने का प्रयत्न रहता है।

वर्धा,
२५ दिसम्बर ५०

—जमनालाल जैन

अ नु क्र म णि का

आभार

प्रस्तुत पुस्तक 'श्री रतनचन्द सुमेर ग्रन्थ माला' की ओर से प्रकाशित हो रही है। श्री रतनचन्दजी का स्वर्गवास अभी-अभी हुआ है। आप राजेगांव (बरसात) में रहते थे। शुरू से ही आपके विचार धर्म समन्वय के रहे हैं। स्थानकवासी सम्प्रदाय के होनेपर भी न केवल जैन ही बल्कि वैष्णवों के मन्दिरों आदि में भी वे आया जाया करते थे औ विधि नियमों में रम जाते थे। वे एक धार्मिक ट्रस्ट भी स्थापित करन चाहते थे। यही वृत्ति उनके सुपुत्र श्री हीराचन्दजी में पाई जाती है उस दिन उन्होंने सहज भाव से कहा कि वे उन्हीं पुस्तकों को रुचि पूर्व पढ़ते हैं जिनमें किसी एक धर्म की प्रशंसा और दूसरे मत की निंदा न हो या फिर धर्म की अलौकिक बातें न हो जो धर्म जीवन को स्पर्श नहीं कर उसे वे धर्म नहीं मानते। यह एक बहुत बड़ी बात है और इसका महत्व और भी बढ़ जाता है जब ग्रामीण वातावरण में रहकर ऐसे विचार सुनने को मिलते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि जब हम मानव-समाज के सा बिना जाति और धर्म के व्यावसायिक सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं तब उस अलगाव की क्या जरूरत है जो जीवन से भिन्न पड़ जाने वाले ध द्वारा पाला पोसा जाता है।

महामण्डल की नीति और जैनजगत से वे इसी कारण प्रभावित और इसी कारण उन्होंने अपने स्व० पिताजी की स्मृति में १००१ रुप प्रदान कर यह पुस्तक प्रकाशित करने को प्रेरित किया।

आपके यहां कृषि और साहूकारी का काम काज होता है।

हीराचन्दजी में सौजन्य, सद्भावना और मिलन सारिता के का गुण हैं।

महामण्डल इस सहायता के लिए उनका अभिनन्दन करता है।

हमारी अभिलाषा है कि जिस सद्भावना से यह ग्रन्थमाला शुरू हुई है उसमें से अच्छी अच्छी सर्वजनोपयोगी पुस्तक प्रकाशित हों और श्री हीराचन्दजी को समाधान हो कि उनकी सद्भावना सार्थक हो रही है और उनके दान का सदुपयोग हो रहा है।

स्व: श्री रतनचदजी मुणोत

त्मक तीसरी विशेषता है, जिस के फलस्वरूप उसने वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, गानकला व काव्यकला आदि का उत्थान किया है।

इन तीन महागुणों की उपासना मनुष्य चिरकाल से करता आया है, और उसका ध्येय भी इन में पूर्णता प्राप्त कर लेना प्रतीत होता है। इसीलिये जितने अंश में मनुष्य इन गुणों में उन्नति करता है उतना ही वह सभ्य व सुसंस्कृत गिना जाता है। किन्तु जान पड़ता है कि इन गुणों के विकास की कोई निर्दिष्ट सीमा नहीं है। नाना देशों व समाजों में ये ही गुण नाना प्रकार से प्रकट हुए हैं, और कालक्रम के अनुसार उनकी विविध प्रवृत्तियों की क्षति और वृद्धि निरन्तर होती हुई पाई जाती है। एक देश की नीति, सदाचार व सभ्य व्यवहार दूसरे देश से भिन्न पाया जाता है। नाना धर्मों व दर्शनों ने जीव और इतरसृष्टि को भिन्न भिन्न प्रकार से समझा है। जो कुछ आज सुन्दर, कलात्मक व आकर्षक समझा जाता है, वही कल दकियानूसी हो जाता है; और जो प्राचीन काल में सत्य व तथ्य विश्वास किया जाता था वही अब अज्ञान व अन्ध विश्वास माना जाता है। इस प्रकार हमारे ज्ञान और विवेक के विस्तार की कोई सीमा नहीं है।

भारतवर्ष चिरकाल से चिन्तनशील रहा है, और चिन्तनशील समाज कभी एक ही नियमावली के बन्धन में बंधा नहीं रह सकता। सृष्टि गतिशील है, परिस्थितियां निरन्तर बदलती रहती हैं, और तदनुसार हमारी आवश्यकता, रुचि एवं नीति भी विकसित होती जाती है। वेदों में हमारी जिस जीवनशैली का चित्रण पाया जाता है, उसमें उपनिषदों की विचार धारा एवं महावीर व बुद्ध जैसे महापुरुषों के उपदेशों ने एक भारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया। यहां विदेशी आए— यवन, शक, हूण और अन्ततः मुसलमान और अंग्रेज। इनसे हमने बहुत कुछ सीखा और उन्हें भी बहुत कुछ सिखाया। कबीर और नानक, [illegible] और रामकृष्ण, एवं तिलक गांधीजी और [illegible] ने हमारे [illegible] धार्मिक ज्ञान की धारा को विशुद्ध

भीड़-चाल के वश में होकर औरों की तरह चुप रहने में ही अपनी सुख-शान्ति समझी है । यह हम यों कह रहे हैं कि हमें बोलना चाहिए था और हम बोले नहीं । बात हमारे मन-लगती नहीं थी, फिर हमें चुप रहना था । हम यह न तब मानते थे और न अब मानते हैं कि आदमी जी से सदा सुख-शान्ति चाहता है । वह सुख शान्ति से ऐसे ही डरता है जैसे दुख दर्द से । अगर सुख सोने में है तो हमें एक भी ऐसा न मिलेगा जो सौ घटे या पचास घटे या पच्चीस घटे भी सोये । अगर सुख खाने में है तो हमें एक भी ऐसा न मिलेगा जो दस सेर या पांच सेर या ढाई सेर खा जाय । सुख शान्ति को समझाने के लिए हमें यह तो बताना ही पड़ेगा कि सुख शान्ति है किस काम में और फिर काम कोई ऐसा बताया नहीं जा सकेगा जिसमें कोई निरन्तर लगकर कुछ ही समय में दुःख न मानने लगे । फिर यह बात कैसे ठीक हो सकती है कि सब लोग सुख-शान्ति चाहते हैं ?

अनुकूल प्रतिकूल वेदना :

कुछ ऋषियों ने 'वेदना' नाम का एक और शब्द खोज निकाला । वेदना शब्द विद् से बना है । विद् माने जानना, वेदना माने जानकारी वेदना शब्द वाले ऋषिने सुख को कहा अनुकूल वेदना और दुख को कहा प्रतिकूल वेदना । इन को सीधे शब्दों में यों समझ लीजिये कि मनचाही जानकारी सुख और मन न चाही जानकारी दुख कहलाती है । अब सुख रह गया मनचाही बात । अब धर्म बताये कि वह क्या सुख दिला-येगा ? जो मैं चाहता हूं उसके मिलने से ही मुझ सुख मिलेगा । अगर धर्म भी वही दो से दो मिलाता है तो धर्म ने मेरा क्या भला किया और वह किस काम आया ? और अगर धर्म मेरी बात को काटता है और 'ना' कहता है तो वह मुझे दुख देता है । फिर यह बात झूठ हो जाती है कि धर्म सुख देता है । इन अनुकूल और प्रतिकूल वेदनाओं ने बात की

जिस दरख्त ने अपने बहुत-से पत्ते छितरा दिये हों, आंधी रूप वाली उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकती क्योंकि उसमें टकरा कर वह खुद छि जाती है। रेल वाले कई सिगनल के हत्थों का नुकसान करने के बाद समझ पाये कि उसमें अगर बहुत से सूराख कर दिये जायँ तो आंधी उस न तोड़-फोड़ सकेगी क्योंकि वह खुद इन सूराखों में होकर छि जाती है। आग, पानी, हवा गला फाड़ फाड़ कर आदमी को यह स दे रहे हैं कि सुख व शांति बिखरने और छितराने में है, सिमटने इकट्ठे होने में नहीं। पर प्रकृति के ये दोनों गुण हैं कि वह सिमट सिमटती है और बिखरती बिखेरती है यानी दुख-सुख मय है। आदमी से बिल्कुल तो नहीं बच सकता पर जरा सोचे समझे तो सुख-शांति के अ खड़े कर सकता है। जो सुख-शांति आज दुनिया में कहीं भी नहीं और किसी को ढूंढे नहीं मिल रही, उसकी कुछ दिनों में ही इत बहुतायत हो सकती है कि जो जितनी चाहेगा, पा सकेगा।

असली सुख बिखरने और छितरने में है :

यह किसे नहीं मालूम कि हमारी हरी हरी खेतियाँ जिनको देख कर हमारी आँखें तर हो जाती हैं, हमारा मन उमंगों से भर जाता है और जिस देख कर हमारी घरवालियाँ गा उठती हैं और नाचने लगती हैं और हमारे बच्चे खिलखिला उठते हैं वह सब नतीजा है उस के ढेर को छितराने का और खेत में बिखरने का जो घर में ढेर के रूप में कोठी में बन्द था और अगर कुछ देर और बन्द रहता तो तरह तरह के कीड़े और बदबू पैदा करता, घर भर को दुख देता और सड़कर कितनों को भूखा रखता और यों कितनों को रुलाता, इसका अन्दाज नहीं लगाया जा सकता। देखिये न, अ उसीका एक एक दाना खेत में पड़कर कितने गुना हो गया है। याद रहे वह अन्न घर में रहने के लिए नहीं बना है। अगर कोई उस ढेर के लि

किसी हिसाब से उनमें बाँट दिया करें तो आप देखेंगे कि आप और भी ज्यादा सुखी हो गये हैं और आये दिन की रोज की झंझट से बच गये हैं। यह बात हम यों ही नहीं लिख रहे, हमने खुद इस तरह का एक आदमी देखा था और यह भी मालूम किया था कि वह औरों की अपेक्षा कहीं ज्यादा सुखी है। हमने उसकी नकल भी की थी और अब तो हम अपने अनुभव के आधार पर यह जोर के साथ कहने की हिम्मत करते हैं कि यह मिलकर देने का तरीका जमा करने की रीति से कहीं ज्यादा सुखदायक होता है।

सूद कड़वा विष है :

हम हैरान हैं सूद की बुराई या सूद में रहनेवाला ज़हर मुहम्मद साहब के सिवा किसी और सन्त को या ऋषि नबी को क्यों न दिखाई दिया! सूद का रिवाज सचमुच एक ऐसा दुखदाई रिवाज कि जिसके रहते समाज का सुखी होना या व्यक्ति का शांति हासिल करना किसी तरह नसीब नहीं हो सकता। इसकी जड़ें मगर लोगों के दिल में इतनी गहरी असर कर गई है कि वे ढंग से भी इस मामले पर सोचने के लिए तैयार नहीं हो सकते। सूद एक ऐसी बला है जिसने समाज में कहीं ढील लाकर दिए हैं और कहीं पत्थर लाद दिये हैं। सूद समता के लिए बहुत कड़वा विष है। धन जमा करने का रिवाज उतना ही है जितनी [illegible] सूद के रिवाज की उम्र नहीं पड़ी है। पर इसका धन जमा करना इतना [illegible] नहीं रहा जितना सूद [illegible] [illegible]

[illegible]

मिलता और न हजम करने और रस बनाने का सुख मिलता है। सांस लेने में इतना आनन्द नहीं आता जितना सांस बाहर फेंकने में। सांस लेना यानी हवा को एक कोठरी में इकट्ठा करना और सांस फेंकना यानी हवा को छितराना। असल में सांस फेंकने में हम उस ज़हर को निकाल फेंकते हैं जिसको हम अपनी भूलों से अन्दर जमा करते रहते हैं। फिर सांस फेंकने यानी हवा को छितरा देने में हमें सुख मिलना ही चाहिए। थोड़े शब्दों में प्रकृति हमें तन्दुरुस्त बनाये रखने के लिए जमा करने का काम भी करती है, पर बिखरने-बिखराने का काम ज्यादा करती है। और इस तरह वह थोड़ी देर दुःखी रखकर ज्यादा देर सुखी रखना चाहती है। हम उसके इशारों पर न अच्छी तरह से नज़र डालते हैं और न उनसे कोई सबक लेना चाहते हैं। फिर यह कैसे समझा जाय कि हम सुख-शान्ति चाहते हैं।

शासन में छितराने का प्रयोग।

आइये, अब ज़रा हुकूमती कामों की तरफ आइये। हुकूमत अगर समाज को सुख शान्ति पहुँचाना चाहती है तो ऐसी भीड़ को पुलिस की लाठियों से छितरा देती है जिसपर उसको यह शक होता है कि यह जनता की शान्ति को भंग करनेवाली है। इतना ही नहीं, अच्छे से अच्छे काम के लिए जमा होनेवाली भीड़ की देखरेख के लिए सरकारी पुलिस का इन्तज़ाम रहता ही है। अगर कहीं किसी वजह से सरकारी पुलिस वहाँ नहीं पहुँच [illegible] तो भीड़ जमा करने वाले पहले ही से अपनी पुलिस [illegible] स्वयंसेवक दल का नाम [illegible] है। इसका यही [illegible] जमा करने वालों को भीड़पर पूरा एतबार नहीं रहता। [illegible] होती ही। [illegible] जा सकता है पर इसका [illegible] और फिर चाह वह सभा-सभाओं [illegible] बन जाती है।

बचने के लिए भी सब से अच्छी तजवीज यही है कि समाज बड़े बड़े शहरों में जो जमा हो गया है वह पाँच-पाँच और दस-दस घर वाले गाँवों में बहुत बड़े हिस्से में छितरा दिया जाय। बस, एटम बम का खतरा दूर हो गया। यह इस तरह कि एटमबम इतना कीमती होता है कि उसे दुश्मन पाँच-दस घर वाले गाँवपर गिरा कर बेहद टोटे में रहेगा। इसलिए वह बम गिराने की बेवकूफी कभी नहीं करेगा। इसी सिलसिले में यह भी समझ लेना चाहिए कि ये बड़े बड़े कल कारखाने समाज के उन सदस्यों के लिए जो उनमें काम करते हैं बेहद दुःखदाई हैं; पर इसकी चर्चा तो अभी हम करते नहीं। अभी तो हम यह बताना चाहते हैं कि ऐसे कल कारखाने हुकूमत के ख्याल से भी बड़े दुःखदाई हैं। दुश्मन के बम उनपर गिरकर करोड़ों की रोजी का एकदम खात्मा कर सकते हैं। यही कल कारखाने छितर कर छोटे रूप में गाँव के घरों में रहटी, चरखा, धुनकी, करघ और कोल्हू और कढाव का रूप ले लें तो दुश्मन सकपका जाय और हमारा देश भी एकदम करोड़ों की रोजी न खो पाये। न फिर कपड़े के बिना नंगा रहे और न शक्कर के बिना उदास। ये बातें अब ऐसी बातें नहीं रह गई जिन पर लम्बी चौड़ी बहस की जरूरत हो। जिनको बताने के लिए हम ये बातें लिख रहे हैं वे हम से ज्यादा अच्छा समझते हैं। अगर हम में इन बातों के बारे में एक मन विश्वास है तो उन में एक रत्ती भी नहीं और इसी वास्ते जानते हुए भी वे इस पर अमल नहीं करते। अक्ल विश्वास को आसानी से कबूल नहीं करती और किसी ने ठीक ही कहा है कि "अक्ल तब आती है, आती ठोकरें खाने के बाद"। छोटी पल्टनों ने एक लड़ाई हारकर ही [illegible] की जगह [illegible] को अपनाया। कारखानों के छितराव की बात भी [illegible] के [illegible] के मुँह से ही [illegible] पर [illegible] पर अंकित हो जायगी। पर हो सकता है कि वह सबक इतनी देर से मिले कि हम [illegible] मिलकर न [illegible]। अभी तो हम कह रहे हैं कि मजबूत समाज [illegible] नहीं चाहता।

कॉंग्रेस का संगठन :

सन् १९२० में हिन्दुस्तान के सन्त ने लोगों को सुख-शान्ति का ज्ञान कराया। पर उसे तो हिन्दुस्तान के पाँव में लगे काँटे को निकालना था और वह काँटा तो काँटे बिना नहीं निकल सकता था। यह ठीक है कि उसने अपनी समझ में मुलायम से मुलायम काँटे से काम लिया पर वह इतना सख्त तो जरूर था कि काँटा निकालने के काम में न मुड़ता था, न ढीला पड़ता था और वह था कांग्रेस का संगठन। उस संगठन के नियमों को पढ़कर देश-बन्धु दास तो फड़क उठे थे और कह बैठे थे कि यह तो नई सरकार गढ़ी जा रही है। और सचमुच सन् २० और २१ में कांग्रेस ने सारी ताकत फिर चाहे वह हुकूमत की हो या इन्साफ की, अंग्रेज के हाथ से छीन ली थी। और गाँव गाँव में नहीं तो शहरों शहरों और जिलों-जिलों में छितरा दी थी। अब जिला-कांग्रेस का प्रेसिडेण्ट आपोआप जिला-मजिस्ट्रेट बन बैठा था। और अंग्रेज जिला मजिस्ट्रेट अपनी कचहरी में हाथ पर हाथ धरे रहता था। यही हाल कुछ सूबे के सूबदारों का था। और यही थे दिन थे कि जब अंग्रेजी राज रहते हुए भी हिन्दुस्तानी बेहद सुखी थे क्योंकि हुकूमती और इन्साफी ताकत छिनकर करोड़ों नहीं, लाखों भी न सही तो हजारों के हाथों में बंट-बट गई थी और वह सच्ची ताकत थी। क्योंकि उस ताकत ने लोगों को हाथ का पक्का और लंगोटी का सच्चा बना दिया था। अंग्रेजी ताकत अब नाम को रह गई थी। असली ताकत अब सब हिन्दुस्तानियों के हाथ में थी। धीरे धीरे किसी वजह से वह ताकत हिन्दुस्तानियों की मुट्ठी में न रह पाई और शायद इस वजह से कि वे उसको काम में न [illegible] इसलिए वह फिर धीरे धीरे की [illegible] [illegible] की तरह [illegible] [illegible] की तरह से [illegible] [illegible] [illegible] और फिर वह [illegible] [illegible]

तपस्या से पाई ऋद्धि-सिद्धि को सच्चे व्यापारी की तरह मेहनत से कमाये एक एक सिक्के को व्यापार में लगा देना चाहता था या सूद पर उठा देना चाहता था। वह निकम्मी और जल्दी नष्ट होने वाली राजसत्ता को बिखरा-छितराकर सकम्मी और कभी न नष्ट होनेवाली नीति-सत्ता में बदल देना चाहता था। वह आत्म-बल का विश्वासी था, नीति-बल का पुतला था। वह समझदार होने के दिन से मरने के दिन तक राज-बल को ठुकराता रहा। और सत्य तथा प्रेम-बल को गले लगाता रहा। क्या वह अपने साथियों को सत्यबल और प्रेमबल के अलावा कोई दूसरा बल अपनाने की सलाह दे सकता था? राजबल का इच्छुक हिंदुस्तान में कौन नहीं? राजबल के इच्छुकों की खोज करने की कहाँ जरूरत है? उन के लिए विज्ञापनों पर पैसा खर्च करना पैसे का दुरुपयोग करना है। इस बीसवीं सदी में जब एक सक्के का छोकरा यानी कहार का लड़का अफगानिस्तान के खानदानी बादशाह अमानुल्ला के हाथ से अफगानिस्तान की गद्दी छीन सकता है और अफगानिस्तान पर बरसों न सही, कुछ महीनों राज कर सकता है और ऊँचे से ऊँचे पटे-लिखों को अपनी उंगली के इशारों पर नचा सकता है तो हिन्दुस्तान का भी मगुआ तेली, मुहम्मदा कुंजड़ा, कलुआ कुम्हार और रमजानी मिस्त्री राजसत्ता लेने के लिए मिल सकते हैं और वक्त पड़ने पर लिखों को ही नहीं सूर्खों को भी संभाल सकते हैं। हिन्दुस्तान में रामराज् और चीतू पांडे की कमी नहीं है। इनका राज फिर चाहे वह दिनों और हफ्तों ही रहा हो, हिन्दुस्तान के 'जिसकी खोपड़ी उस के गीत गानेवाले' सैकड़ों आई. सी. एसों से हजार गुना अच्छा था। उन के राज में जनता ही नहीं व दूसरों के बल पर मक्खियाँ बननेवाले आई. सी. एस. भी मगन बन सुखी थे। पर एस रामराज् और चीतू पांडे डाक्टरों के ढूँढ़ नहीं मिल सकते। उन के लिए, मन की खोज ही नहीं, सत की [illegible] और [illegible] भी [illegible]। [illegible] में 'और नहीं' कहने-वा[illegible] ही [illegible] ही, [illegible] में एस आदमी नहीं मिल सकते

उडेलेगा और इन मदमातों के साथ वश करेगा यह समझने का काम इन पढ़ने वालों पर छोड़ते हैं।

केन्द्र जानदार खूंटा :

हिन्दुस्तान की राजसत्ता एक कीली के चारों तरफ घूमती चली जा रही है और हर छोटे बड़े में एक लहर दौड़ गई है कि वह आवाज लगाकर यही कहता फिरता है कि सब बल यहीं खोये जाओ, यहीं देते जाओ, और यहीं खोये जाओ। कीली सचमुच बड़े काम की चीज होती है। खूंटा सचमुच सहारा होता है। पर वह तभी तक सहारा है जब मैं अपनी भैंस का पगहा अपने आप उस खूंटे में बांधूं; लेकिन खूंटा जानदार हो और मेरे हाथ से मेरी भैंस का पगहा छीन कर अपने में बांध ले तो यह सहारा नहीं वह तो टकला कहलायगा। और आज हिन्दुस्तान में यह हो रहा है। आज केन्द्र जानदार खूंटा बना हुआ है और उससे जबरन अपनी भैंसें नहीं बांध रही, वही पगहा छीन छीन कर भैंसों को बांधे हुए है। भैंसें प्यासी हैं, वे खूंटे से खोली नहीं जातीं इसलिए गर्दन तोड़ती हैं। वे भूखी हैं, चरने के लिए खोली नहीं जातीं, इसलिए वे रस्सा तोड़ाने की कोशिश करती हैं। यह ठीक है कि आज केन्द्र का खूंटा [illegible] [illegible] हुआ बड़ा है और कोई भैंस उसे हिला [illegible] सकता। पर इसका क्या मतलब है कि पगहा में [illegible] का [illegible] इतना ही मतलब है कि वह मैं [illegible] भी इस [illegible] बड़े इन [illegible] किसी कोई [illegible] का घर और [illegible] वालों के [illegible] भी नहीं

: २ :

श्रमणों की समस्या

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

आर्य-संस्कृति में जैन तथा बौद्ध परिव्राजक ही सामान्यतः 'श्रमण' कहलाते हैं। आर्य-संस्कृति की यदि दो शाखाएँ मानी जायं: वैदिक तथा अवैदिक, तो जैन तथा बौद्ध 'श्रमण' ही अवैदिक संस्कृति के प्रतिनिधि हैं।

'वैदिकों' के लिये 'अवैदिक' होना जैसे विग्रह तथा निन्दा का भी विषय हो सकता है, ठीक उसी तरह 'अवैदिकों' के लिए 'वैदिक' होना थोड़े उपहास का विषय है।

"वैदिक" धर्म का संन्यास-मार्ग कदाचित्, श्रमण संस्कृति की ही देन है। इसलिए जब हम 'श्रमणों की समस्या' की चर्चा कर रहे हैं तब प्रकारान्तर से सभी शास्त्र-सिद्ध परिव्राजकों की समस्या सामने आती है। 'श्रमण' और 'संन्यासी' में भेद करने का हमारा आग्रह भी नहीं है।

ऐसे भी विचारक हैं जो संन्यास-आश्रम को ही मात्र [illegible] मानते हैं। उनकी दृष्टि में किसी को भी कभी भी 'श्रमण' अथवा 'संन्यासी' नहीं बनना चाहिए। ऐसे विचारकों की बातें अभी रहने दें।

सामाजिक-कारणों से, आर्थिक-कारणों से, नैतिक अथवा आध्यात्मिक कारणों से [illegible] भी पहले श्रमण संस्था की नींव [illegible] किसी न किसी रूप में [illegible]

[illegible] कुछ नियम (डिसिप्लिन) [illegible] हैं। बौद्ध भिक्षुओं [illegible] की भी है ही।

"यह आदमी आपके साथ हैं ?"

"हाँ !"

"जो आप जब यात्रा में रहते हैं, तब आपकी भिक्षा की व्यवस्था रहती है ! हमने सुना है कि जैन मुनियों की दाने-दाने पानी के विषय में भी मर्यादा है।"

"हम जहाँ जाते हैं, भिक्षा कर लेते हैं।"

"आप अपने साथ के इन दो आदमियों से भोजन क्यों नहीं बनवा लेते !"

"हम अपने लिये इनसे भोजन नहीं बनवा सकते। हाँ, यह अपने निज के लिये भोजन बनाते हैं। उनमें से हम 'भिक्षा' ले लेते हैं।"

अब आप जरा विचार कीजिए कि इस द्रविड़ प्राणायाम का क्या अर्थ है ? मुनि महाराज 'भिक्षा' ग्रहण करते हैं। वे उन्हीं दो आदमियों की बनाई हुई 'भिक्षा' ग्रहण करते हैं ! वे दोनों आदमी जहाँ जहाँ मुनि महाराज जाते हैं सामान लिये उनके साथ-साथ चलते हैं ! किसी न किसी भक्तराज सेठ ने मुनि महाराज के लिए ही यह व्यवस्था कर रखी है। यह सब होने पर भी मुनि महाराज को यह स्वीकार करने में अनौचित्य मालूम होता है कि यह भोजन उनके लिये बनता है।

आप इसे कदाचित् मुनि महाराज का 'ढोंग' कहेंगे। किसी के आचरण के लिये सहसा "ढोंग" शब्द का उपयोग करने से सरल कोई दूसरा काम नहीं। किन्तु हमें इसे समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

मेरी समझ में मुनि महाराज "ढोंगी" नहीं थे। वे वैसा करने के लिये मजबूर थे। उनके जैसे मानसिक संस्कार थे और उनकी जैसी आर्थिक या भौतिक परिस्थिति रही उसमें वे और कुछ कर ही न

: ३ :

कर्त्तव्य और अधिकार

महात्मा भगवानदीनजी

जीवन का निचोड़

विलायत के कवि बायरन के बारे में यह बात मशहूर है कि व
यह इम्तिहान के पर्चे के इस सवाल के बारे में सोच रहा था कि "ह
हज़रत ईसा को देख कर क्यों शराब बन गया ? इस पर एक ले
लिखो" तो वह घंटों सोचता रहा पर उसकी समझ में कुछ न आय
जब तीन घंटे पूरे होने को हुए तब कहीं उसको एक बात सूझी और
वह थी कि जब पानी ने अपने मालिक को देखा तो वह खिल उठ
बस, उस सवाल के जवाब में इतने ही शब्द लिखे और कहते हैं कि
इम्तिहान में पास हो गया। इसी तरह मैंने बहुत सोचा कि कर्त्तव्य
अधिकार के बारे में क्या लिखा जाय तो मुझे बस [illegible] की बात सूझी
कर्त्तव्य और अधिकार भारतीयों के जीवन का निचोड़ है और उसके
में सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि 'कर्त्तव्य-पालन पर हम अधि
हासिल करें और कर्त्तव्य-पालन ही हमारा अधिकार है।' इतना के
रेडियो वालों की ओर आप सुननेवालों [illegible] चाहिए
पर न मैं बायरन हूँ और न आप [illegible] इसलिये
मिनट अभी और कुछ कहना पड़ेगा।

दोनों एक दूसरे में समाहित

कर्त्तव्य और अधिकार [illegible]
आप अधिकार को बिना कर्त्तव्य [illegible] बिना अधिकार के [illegible]

सोच सकते हैं, न बोल सकते हैं और न कर सकते हैं। हमारे यहाँ का शब्द 'अधिकार' अपने पीछे एक कथा लिये हुए है। और यही हाल कर्तव्य का है। अधिकार और कर्तव्य के लिए अंग्रेज़ी में शब्द हैं Right और duty। पर ये Right और duty ही जब यह माने जाते हैं जिन मानों को लेकर आज अमेरिका और यूरप वाले लड़ रहे हैं और जिनकी देखादेखी हम सब भारतीय भी वैसा ही कर रहे हैं। अधिकार पाने की लड़ाई कैसी! और अधिकार हासिल करने में धोखा कैसा! अधिकार हमारी कमाई का फल होता है। बस, यह कर्तव्य कमाई का फल है। अधिकार के और हमारे बीच में कोई रुक ही कैसे सकता है! क्या पेड़ और फल के बीच में कभी कोई रुक पाया है! क्या दीपक जलने और प्रकाश होने के बीच में कभी कुछ देर लगी है! इसी तरह कर्तव्य-पालन करते करते हम किसी-न-किसी अंश में अधिकार पाते ही रहते हैं। और किसी-न-किसी चीज़ के अधिकारी बनते ही रहते हैं। इसको साफ़ साफ़ समझाने के लिए आइये आपको उन दिनों के भारत में ले चलें जिन दिनों सिकन्दर का हमला उसकी उत्तर पश्चिमी सरहद पर हो रहा था। सिकंदर के मुकाबले में था राजा पुरु। हम यहाँ इस वक्त सिकन्दर और पुरु के कर्तव्यों और अधिकारों की चर्चा नहीं करेंगे, हम चर्चा करेंगे उस वक्त के दो मामूली आदमियों की जो लोगों का काम करते थे। ये दोनों पुरु के दरबार में [illegible] पहुँचे [illegible] सिकन्दर भी पुरु के पास बैठा [illegible] में [illegible] को दूसरे के [illegible] [illegible]

कर्तव्य और अधिकार की एकता का आनन्द

देख लिया आपने ! कर्तव्य और अधिकार मानवीय जीवन में
मिलकर कितने एकमेक हो गये और इनकी एकमेकता आज भी कहीं कहीं
जब आँखों के सामने आ जाती है तब देखने वाले गद्गद हो उठते हैं।
और इसी एकमेकता के फल की बात कभी हम सुन लेते हैं तो इतना मन
उमड़ता है कि आँखों से आँसू बहने लगते हैं। अब सोचिये जो आदमी
इस तरह से अपने जीवन में कर्तव्य और अधिकार को एकमेक कर ले
उसको इस एकमेकता के आधार पर खड़े होकर काम करने में कितना
आनन्द आयेगा। युग-युग के उस किसान के आनन्द को ज़रा सोचकर
देखिये कि जब उसकी ज़मीन में ख़ज़ाना निकलता है तो वह अपना य
कर्तव्य समझता है कि वह उस ख़ज़ाने के असली मालिक को जितनी जल्दी
हो सके यह खुश ख़बर सुनाये कि उसकी ज़मीन में उसका ख़ज़ाना निक
है और वह अपना ख़ज़ाना ले ले। ख़ज़ाने के लिये अपने कमाये हुए
से मोल ली हुई अपनी ज़मीन को उसकी ज़मीन मानता है। उसका कर्त
उसे सिर्फ़ ज़मीन पर अधिकार करने को कहता है, उस ख़ज़ाने पर नहीं
जो ज़मीन के सौदे में शामिल नहीं है। उधर दूसरा आदमी यानी ज़मीन
बेचने वाला जो अपनी ज़मीन पर की हुई मेहनत का फल रुपयों के रूप
पूरा पूरा पा चुका होता है, वह अपना यह कर्तव्य समझता है कि व
सिर्फ़ उन रुपयों पर अधिकार जमाये जो उसे सौदे में ईमानदारी के सा
मिले हैं, न कि उस ख़ज़ाने पर जिसके बारे में न वह जानकार है
अजानकार। अब अगर पहला आदमी ख़ज़ाने पर अधिकार जमा लेता
तो वह कर्तव्य भूल जाता है और कर्तव्य के बिना पाया हुआ अधिका
डरावनी चीज़ है। वह चरित्र को बिगाड़ता ही है, जान को भी जोखि
में डालता है। दूसरे आदमी के मामले को ले लीजिये। अगर वह ख़ज़ा
को अपनाना अपना अधिकार मानता है तो उस अपने कर्तव्यशील म

उसे उस काम में कभी कभी अपनी जान जोखिम में डालनी पड़ती है और फिर भी राजा न उसकी इस मेहनत का खयाल करता है और जान जोखिम में डालने की ओर ध्यान देता है। इतनी मेहनत से [illegible] हुई चीज़ को राजा उससे छीन लेता है और जिसकी होती है उसको देता है। वह इतना ही नहीं करता, चोर को सज़ा देता है और उ[illegible] ऐसी मेहनत कराता है जिसे करने को उसका जी नहीं चाहता। [illegible] इसलिये कराता है कि चोर कर्त्तव्य को समझने लगे, ईमानदारी को [illegible] जाय और इस तरह सच्चे और ना-सच्चे अधिकार में अन्तर करना [illegible] जाय। हाँ, तो अब यह पता चला कि कोरी मेहनत से किसी ची[illegible] अधिकार नहीं होता और अगर हो भी जाय तो या तो वह अधिकार [illegible] जान जोखिम में डालेगा या किसी दूसरे को सतायेगा या दूसरे की [illegible] पर उतारू हो जायगा। जैसे कोई डाक्टरी की कला पर कोरी [illegible] से अधिकार कर ले और उसके साथ ईमानदारी और कर्त्तव्य-पाल[illegible] पुट न दे तो नतीजा यह होगा कि वह डाक्टर लालच में पड़कर [illegible] निकम्मे काम करने लग जायगा जिसकी वजह से लोग दुखी होंगे [illegible] एक दिन वह खुद भी आफ़त में फँसेगा और हो सकता है फाँसी पर [illegible] चढ़ा दिया जाय। यही वजह थी कि भारत के ऋषि-मुनि और भारत के बड़े बूढ़े किसी को किसी विद्या पर अधिकार कराने से पहले उसको अच्छी तरह से परख लेते थे और देख लेते थे कि वह ईमानदारी के [illegible] कर्त्तव्य पालना जानता है या नहीं। यह दो बातें देखकर ही वे किसी को विद्या पर अधिकार कराते थे। यह बात गलत है कि वे शूद्रों का विद्या पर अधिकार नहीं कराते थे और जिसने [illegible] ऋषि का कथा [illegible] है वह [illegible] ऋषि-मुनि ऐसा [illegible] करने [illegible] है

चीज़ आगई हो जो इस कसौटी पर न कसी जा सके। तो हम इसे सुनने वालों से यही प्रार्थना करेंगे और अगर हम सलाह देने के अधिकारी हैं तो यही सलाह देंगे कि वे पुराण के उस भाग से कोई मोल न लें जो इस कसौटी पर ठीक नहीं उतरता। आजकल सब जगह धींगामुश्ती वाले अधिकार का बाज़ार गर्म है और अकर्त्तव्य ही कर्त्तव्य का जामा पहने सस्ते दामों बाज़ार में मिलता है। इसलिये हमें उसकी खरीदारी से बचना चाहिए और थोड़ीसी तकलीफ उठाकर कर्त्तव्य और अधिकार के उसी रास्ते पर आ जाना चाहिए जिसे भारत के लोग अपनाये हुए थे, आज भी कुछ कुछ अपनाये हुए हैं और जिनकी वजह से ही भारत उठा है, आबाद हुआ है, चमका है और चमकता हुआ रखा जा सकता है।

कर्त्तव्य आत्मानन्द है

गेहूं के बीज को आप कर्त्तव्य समझिये, गेहूं के डंठल को आप अधिकार मानिये और गेहूंओं से लदी गेहूं की बाल को आप आत्मानन्द मानिये, और अब सोचिये कि गेहूं बोकर कोई किसान भुसा मिल जाने की चर्चा करे और गेहूंओं को बिल्कुल भूल बैठे तो वह आप की नज़रों में हँसी की चीज़ होगा या नहीं? ठीक इसी तरह अगर आप कर्त्तव्य-पालन करने के बाद आत्मानन्द की बात छोड़कर अधिकार-अधिकार के ही गीत गायँ तो समझदार आप पर हँसेंगे या नहीं? दोस्तो, इसलिये मेरी तो यही सलाह है कि आप कर्त्तव्य किये जाइये और आत्मानन्द की गंगा में डुबकियां लगाइये। अधिकार आप के पांव चूमता हुआ नज़र आयेगा।

सचाई का सिक्का

सचाई के सिक्के के कर्त्तव्य और अधिकार के दो पहलू हैं और जिस हाथ में सचाई का सिक्का है उस को आत्मानंद प्राप्त है।

—आल इंडिया रेडियो नागपुर से प्रसारित

: ४ :

वैश्यों का धर्म

आचार्य विनोबा

हिन्दू-धर्म ने एक समाज-रचना की थी जिसमें लोगों को काम बांट दिया गया था। उसमें वैश्यों के लिए कृषि, वाणिज्य और गो-सेवा ये तीन धर्म बताए गए हैं।

धर्म वह है जिसके लिए मनुष्य शरीर धारण करता है। धर्म सब के भले के लिए होता है। जो ऐसे धर्म को मानता है वह जरूरत पड़ने पर आवश्यक त्याग भी करता है। कुटुंब में लोग एक दूसरे के लिए त्याग करते हैं उसी से उन्हें धर्माचरण का समाधान रहता है। ऐसा न होता तो हमारी हालत जानवरों-जैसी होती। इस कुटुंब-व्यवस्था ने हमें जानवर बनने से बचा लिया। इसी प्रकार हरएक के लिए सामाजिक धर्म नियत किया गया था, जिसमें वैश्यों का धर्म कृषि, गो-सेवा और वाणिज्य द्वारा समाज-सेवा करना बताया गया था।

किंतु वैश्यों ने कृषि और गो-रक्षा को मुश्किल समझ कर उन्हें छोड़ दिया। बाद में यह काम ऐसे लोगों को सौंपा गया जो आवश्यक मेहनत तो कर सकते थे परंतु इस काम के योग्य शास्त्रीय ज्ञान उनके पास न था। इनका एक नया वर्ण बनाया गया जिसकी गिनती बाद में शूद्रों में होने लगी।

मैं मानता हूं कि पुराने जमाने में वैश्य समाज के सच्चे सेवक होते थे। वे अपना पैसा, अपनी बुद्धि, सब कुछ समाज की सेवा में लगाते थे। इसीलिए उन्हें महाजन भी कहा गया है। समाज में व्यापारियों

की अच्छी प्रतिष्ठा हुए बिना तो उन्हें 'महाजन' नहीं कहा गया होगा। ये सत्य निष्ठ और सेवा-परायण न होते तो यह पदवी उन्हें न मिलती।

लेकिन जब खेती और गो-रक्षा का धर्म उनमें छूट गया तो उनक तेज घटने लगा। फिर भी जिन लोगों ने समाज का यह काम संभाल उनमें और वैश्यों में परस्पर संबंध अच्छे रहे। परंतु मेहनत करने वाले लोग धीरे-धीरे हीन समझे जाने लगे। जब अंग्रेज व्यापारी यहां आए तो उन्होंने यह सारी परिस्थिति देखी। उन्होंने देखा कि व्यापारी लोग किसानों को नीचा मानते हैं, उनके हाथ का खाने-पीने नहीं। उनमें और कारी रियों में प्रेमभाव नहीं है। इतनी दूर से आनेवाले अंग्रेजों के हाथ य अच्छा मौका लग गया। उन्होंने अपना व्यापार शुरू कर दिया। ब सारा व्यापार हमारे व्यापारियों के हाथ से उनके हाथ में चला गया तो उन्होंने यहाँ अपनी सेना भी बना ली। आगे का हाल तो आप स जानते हैं।

इस तरह दक्षता न रखने, कारीगरों को हीन मानने और चूकने के कारण व्यापारियों के हाथ में व्यापार के बजाय केवल दलाली बची रह गई।

आज व्यापारी लोग भले-बुरे उपायों से धन कमाते हैं, और कु दान भी करते हैं। परंतु देश में उनकी प्रतिष्ठा नहीं रही। उनके लि अब आदर के शब्दों का प्रयोग नहीं होता। दुकानदार कुछ खरीदने लिए आए हुए छोटे बच्चों को भी ठगने से बाज नहीं आता। फिर ये राष्ट्र कैसे उन्नत रह सकता है ?

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—सुनार की मर्यादा क्या होनी चाहिए ?

उत्तर—[illegible] की [illegible] हम [illegible]
[illegible] मयादा ही नहीं [illegible]

मालिक है। और हमें मालिक की सेवा करनी है। इसलिए मजदूर का वेतन जो कुछ निर्माण करता है उसके हिसाब से हमें सिर्फ मेहनताना देना है और हर वक्त यह सोचना है कि देश की शक्ति कैसे बढ़ सकती है। आठ घंटे काम कर के मजदूर केवल एक रुपया पाए और व्यापारी एक हजार, तो यह धर्म नहीं है। धर्मयुक्त व्यापार में न मुनाफा होना चाहिए न घाटा। तराजू के पलड़ों की तरह दोनों बाजू समान होनी चाहिए। लेकिन आज तो व्यापारियों के दिल में संचय की वृत्ति ने घर कर लिया है। सच्चा श्रीमान् तो वह है जिसका धन और धान्य, जैसे तुकाराम ने कहा है, घर-घर में भरा है। जिसके जीवन की उसके इर्द-गिर्द की जनता चाहती है, वह सच्चा धनी है। जिसे लोग चाहते ही नहीं हैं वह तो भिखारी है। कबीर का वचन है :—

> पानी बाढ़ो नाव में, घर में बाढ़ो दाम।
> दोनों हाथ उलीचिए, यही सयानो काम ॥

नौका में पानी बढ़ जाने पर जैसे हम उसको, एक हाथ से नहीं, दोनों हाथों से बाहर फेंकते हैं, उसी तरह बढ़े हुए धन को घर के बाहर फेंक कर घर को बचाना चाहिए। यदि लेनेवाला मिल जाय तो उसका उपकार मानना चाहिए। फुटबाल की तरह धन का खेल होना चाहिए। गेंद को कोई अपने पास नहीं रखता। वह जिसके पास पहुँचती है वही उसे फेंक देता है। पैसा भी इस तरह फेंकते जाइए तो समाज-शरीर में उसका प्रवाह बहता रहेगा और समाज का आरोग्य कायम रहेगा। संस्कृत में पैसे को द्रव्य कहा है। 'द्रव्य' माने बहनेवाला। अगर वह स्थिर रहा तो रुके हुए पानी की तरह उसमें बदबू आने लगेगी।

वचन—महात्मा गांधी ने [illegible] जनता को नसीब नहीं होता।

उत्तर—महात्माजी की सलाह तो ठीक ही थी, लेकिन अब परिस्थिति बदल गई है। जिस राष्ट्र में चरित्र-हीनता नहीं है उसमें कोई ऐसा काम नहीं कर सकती। कंट्रोल उठाया तो चीजों के दाम बढ़ गए। नहीं उठाने तो काला-बाजार होना। मैंने इसका हल बताया है कि लगान में अनाज वसूल किया जाय। मैं मानता हूं कि इस से हमारी समस्या हल सुलझ सकती है। रहा कपड़े के बारे में, उसका मुख्य उपाय तो चरखा ही है। साथ-साथ आज जो मिलें हैं उन्हें देश की मिल्कियत बना चाहिए, समाजवादी तो इसकी मांग कर ही रहे हैं, किंतु मुझे भी परमेश्वर को साक्षी रखकर प्रार्थना-सभा में दुःख के साथ कहना पड़ा कि मिल मालिकों ने देश को दगा दिया है। देश की मिल्कियत होने के बावजूद भी देहात के लोगों को मिलों पर निर्भर नहीं होना चाहिए, हाथ से कपड़ा बना लेना चाहिए। उनको इस बारे में तालीम देने आदि का इंतजाम सरकार को करना चाहिए। अगर अन्न और वस्त्र इन दो चीजों का हम इस तरह प्रबंध कर लेते हैं तो और चीजों की विशेष चिंता नहीं रहती।

इंदौर
१८-८-४८

इस तरह वैचारिक, धार्मिक, राजनैतिक पागलपन भी हो सकते हैं। इन पागलपन जान बूझकर थोड़े ही बढ़ता या मजबूत होता है। खुद को ही पता लग जाय तो वह पागलपन थोड़े ही रह जाएगा। वह तो दूसरे को ही दीखता है, और वहीं से उसे पनपने का अवसर मिलता है। आज मैं भी ऐसा ही एक पागलपन कर रहा हूँ। पागलों की दुनिया का मैं प्राणी, यदि बहक नहीं जाऊँ तो ही विशेषता। मैं अक्सर बहक जाया करता हूँ, यह मेरी मानसिक स्थिति है।

इन पागलपन की बातों को मैं कैसी मानता हूँ, यह पाठकों का नहीं, मेरे जानने का विषय है। यहाँ कुछ उदाहरण देता हूं। पाठक इन्हें निर्लिप्त होकर पढ़ें, विचार करें। कृष्ण भगवान का उपदेश है कि निष्काम कर्म करो। आप रोयें या हँसें तो इसकी जिम्मेदारी इन पागलों व पागलों के दर्शक की नहीं, निरीक्षकों की है। मैं तो अपना काम करूँगा, और फिर–छुट्टी। और क्या?

यह एक पागलखाना है। इसे पागलों का अजायब-घर ही कह लीजिए। यहाँ सैकड़ों प्रकार के रोगी रहते हैं।

शायद इसे आप जानते हैं कि पागलों का रोग शारीरिक नहीं, प्रायः मानसिक होता है। बेचारों का रोग तो होता है मानसिक, पीड़ा दी जाती है उन्हें शारीरिक। पानी जड़ को नहीं, पत्तों को पिलाया जाता है।

तो, उस पागलखाने का सुपरिण्टेण्डेण्ट एक समझदार आदमी था। [illegible] लड़की थी। उसने अपने पिता से [illegible]

इस तरह वैचारिक, धार्मिक, राजनैतिक पागलपन भी हो सकते हैं। पागलपन जान बूझकर थोड़े ही बढ़ता या मजबूत होता है। खुद को यदि पता लग जाय तो वह पागलपन थोड़े ही रह जाएगा। वह तो दूसरों को ही दीखता है, और वहीं से उसे पनपने का अवसर मिलता है। आज मैं भी ऐसा ही एक पागलपन कर रहा हूँ। पागलों की दुनिया का मैं एक प्राणी, यदि बहक नहीं जाऊं तो ही विस्मय! मैं अक्सर बहक जाया करता हूँ, यह मेरी वास्तविक स्थिति है।

इन पागलपन की बातों को मैं कैसी मानता हूँ, यह पाठकों का नहीं, मेरे जानने का विषय है। यहां कुछ उदाहरण देता हूं। पाठक उन्हें निर्लिप्त होकर पढ़ें, विचार करें। कृष्ण भगवान का उपदेश है कि निष्काम कर्म करो। आप रोयें या हंसें तो इसकी जिम्मेदारी द्रष्टव्य पागलों या पागलों के दर्शक की नहीं, निरीक्षकों की है। मैं तो अपना काम करूँगा, और !–छुट्टी। और क्या ?

यह एक पागलखाना है। इसे पागलों का अजायब-घर ही कह लीजिए। यहां सैकड़ों प्रकार के रोगी रहते हैं।

शायद इसे आप जानते हैं कि पागलों का रोग शारीरिक नहीं, प्रायः मानसिक होता है। बेचारों का रोग तो होता है मानसिक, पीड़ा दी जाती है उन्हें शारीरिक। पानी जड़ को नहीं, पत्तों को पिलाया जाता है।

तो, उस पागलखाने का सुपरिन्टेन्डेण्ट एक समझदार आदमी था। उसकी २०–२१ वर्ष की पढ़ी-लिखी लड़की थी। उसने अपने पिता से एक दिन कहा।

"पिताजी, मैं पागलखाना देखना चाहती हूँ।"

"क्यों, क्या करोगी देखकर ?"

"पागल कैसे होते हैं, जानना चाहती हूँ।"

"क्या आप को कोई ऐसी मानसिक चोट पहुँची है जिसका असर प्रभाव पड़ा है ?"

"नहीं, ऐसी कोई घटना नहीं हुई। मैंने आज तक किसी को बताया तक नहीं है। मैं जब आप के पिताजी से पूछता हूँ तो कह देते हैं कि तुम पागल हो। मैं पागल हूँ—बड़े अचरज की बात है !

"फिर भी कुछ बात तो अवश्य है जिससे आपको ऐसा माना गया।"

"हाँ, एक बात हो सकती है। मुझे यह विश्वास है कि मेरा शरीर काँच का है। (कलाई पर अंगुलियाँ ठोंककर) यह देखो टनटन् टनटन् काँच ही तो है न ! जरा सा धक्का लगते ही टूट-फूट जायगा !"

"तो क्या शरीर काँच का है ?"

"माफ करें बहनजी, आपने भारतीय आध्यात्मिक विचार धारा का अध्ययन नहीं किया, मालूम होता है। कबीरदास ने भी इसे काँच की शीशी बताया है। क्या यह सच नहीं है ? शरीर रूपी काँच की शीशी किसी [illegible] टूट जायगी।"

[illegible]

[illegible]

[illegible]

ब्राह्मण देवता का रोम-रोम कम्पित हो उठा। अपने लड़के को नई धोती लाने को कहा। वे नदी पर गए और वहीं [illegible] कूद पड़े। ऐसी ही एक घटना और है।

एक आदमी अपनी गाड़ी में पानी के दो पीपे भरकर ले जा रहा था। दुर्भाग्य की बात कि बैल की पूंछ हिली और एक हरिजन का स्पर्श कर गई। अब क्या पानी पवित्र रह सकता था! पानी फेंककर बेचारा घर लौट गया।

एक लड़का किसी हिन्दू होटल में चाय पीने गया। चाय पी। लेकिन पास ही खड़े किसी ने एक व्यक्ति से कहा यह तो मुसलमान लड़का है। अब क्या था। और चल पड़ा कप प्लेटों पर। बेचारी इतनी जोर से फेंकी गईं कि चूर चूर हो गईं।

इसे मैं क्रोध का पागलपन कहता हूं। कर्म करे कोऊ और ही, फल पावे कोऊ और—की सचाई ऊपर की घटनाओं में देखी जा सकती है। यानी कुम्हार कुम्हारी से न जीतने पर गधे के कान ऐंठता है।

कस्तूरबा स्मारक फंड के कार्य निमित्त हम कुछ लोग एक सेठ के यहां पहुंचे। किसी को खांसी आगई। खांसी आई तो रुके कैसे! लेकिन सेठजी आगबबूला हो गए। बोले, यह कोई दवाखाना है जो खांसी मचा दी। उसे निकाल कर ही सेठजी ने दम लिया। सेठजी बोले 'पागल कहीं का'। पर हम सेठजी के पागलपन पर हंसी आ रही थी।

एक [illegible] घर की स्त्रियों [illegible] के कारण अपने नौकर से बैर रखते थे। इतने में [illegible] आ पहुंचा। [illegible] था। परम्परा का सन्देह प्रकट [illegible] रहा। [illegible] बेचारी [illegible] कुछ [illegible]। ऐसे ही अनेक प्रकार के सन्देह जीवन में प्रवेश कर [illegible] पड़ती है।

: ६ :

सार्वजनिक कार्य और धन

रिषभदास रांका

एक आशंका

'संस्थाएँ अपरिग्रही बनें' की जो विचारधारा प्रकट की जा रही है उस के सम्बन्ध में कुछ विचारकों और कार्यकर्त्ताओं का ख़याल है कि यह विचारधारा सामाजिक कार्यों के लिए बाधक हो सकती है। सम्भव है कि बहुत कुछ हानि भी उठानी पड़े। उनका कहना है कि "एक तो दान देनेवालों की पहले ही समाज में कमी है और जो देनेवाले हैं वे भी आवश्यक और पर्याप्त तो नहीं ही देते। समाज के कई आवश्यक कार्य ऐसे हैं जो धन के अभाव में रुके पड़े हैं या बराबर नहीं चल रहे हैं। ऐसी स्थिति में अगर दान देनेवालों को संस्थाओं के अपरिग्रहीकरण की बात सुनाई गई तो सम्भव है कि उद्देश्य का दुरुपयोग कर वे दान देना ही बन्द कर दें।"

यह बात समाज के एक अनुभवी नेताने हमारे सामने रखी है। यह एक विचारणीय विषय है और इसपर विचार होना आवश्यक है। गुरुजनों से विचार-विमर्श करनेपर जिस निर्णयपर हम पहुँचे हैं उसे विचार के लिए समाज के सन्मुख उपस्थित कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

दान लेने के तरीके

इस में तो शायद सभी सहमत होंगे कि आजकल फण्ड एकत्रित करने या चन्दा मांगने की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई है। चन्दा मांगनेवाला किसी एक कार्य को अपना ध्येय मानता है और उसकी आवश्यकता इन

दान देने के तरीके

दूसरी ओर दान दे चुकने के बाद सेठजी भी कुछ ऐसा-सा ही कहते पाए जाते हैं कि "क्या करें भाई, जब कोई गले ही पड़ जाता है तो कुछ दिए बिना पिण्ड ही नहीं छूटता। अगर नहीं देते हैं तो चारों तरफ बदनामी का ढिंढोरा पीटते फिरते हैं। इसलिए कुछ न कुछ देना ही पड़ता है।" फिर कुछ यह भी कहते पाए जाते हैं कि "भाई, अपने बाप-दादों की स्मृति में अपने समाज और संस्कृति की रक्षा के लिए कुछ न कुछ करना कर्तव्य हो जाता है। अपने को तो व्यापार-धंधे से ही फुरसत नहीं मिलती, इसलिए बेचारे जो कार्यकर्ता कुछ काम करते हैं उन्हें मदद देनी ही चाहिए। और इस में अपना नुकसान ही क्या है। नेतागिरी मिलती है, समाज में नाम होता है, पदवियाँ मिलती हैं, अखबारों में चित्र छपते हैं। क्या यह कम महत्त्व की बात है? थोड़ासा देकर इस नाम और कीर्ति को कौन छोड़ेगा?"

मूल बात दूर है

यह है हमारे समाज की हालत। समाज में भलाई का काम, सेवा का काम कितना होता है, कहाँ होता है और क्यों होता है इसकी चिन्ता किसी को नहीं। संस्था और कार्यकर्ता इसलिए खुश होते हैं कि उन्हें धन मिल जाता है और धनवान इसलिए फूलकर कुप्पा होता है कि वह अपने नाम को चारों ओर बिखरा हुआ देखता है। लेकिन यह दुःख की बात है। इस तरह समाज-सेवा हमारी दृष्टि में भी असम्भव है।

कर्तव्य

दान समझ बूझ कर देना चाहिए और यह समझकर देना चाहिए कि धन तो भी स्थायी नहीं रहनेवाला है। जो कुछ हमारे पास है वह समाज के लिए है, समाज का है और समाज से प्राप्त किया गया है।

१. शिक्षण सम्बन्धी संस्थाएँ; जैसे छात्रालय, शिशालय, छात्रवृत्ति-प्रदायी संस्थाएँ, और महाविद्यालय आदि।

२. औषधालय और आरोग्य-भवन आदि।

३. आकस्मिक संकटकालीन सहायता प्रदान करनेवाली प्रवृत्तियाँ जैसे बाढ़, भूकम्प, दुर्घटनाएँ आदि।

४. पुस्तकालय, वाचनालय आदि।

५. यात्रियों और प्रवासियों की सुविधा के लिए सड़कोंपर बनाई जानेवाली धर्मशालाएँ, कुएँ आदि।

६. अथवा ऐसे ही वे कार्य जिनसे समाज को सीधी सहायता पहुँचती हो।

यह काम ऐसे हैं कि बिना धन के हो नहीं सकते। लेकिन स्थान, आवश्यकता, समय आदि का खयाल रखे बिना केवल नाम और यश के लिए कहीं भी कुछ कर देने से कोई लाभ नहीं। इन पवित्र कामों के लिए भी कुछ लोग सद्भावनापूर्वक निरपेक्ष दृष्टि से धन देना पसन्द नहीं करते। इन चीजों में भी वे नाम और यश का रोड़ा अटका देते हैं। लेकिन हमारा खयाल है कि ऐसे कामों के लिए किसी तरह की अपेक्षा या आसक्ति रखे बिना ही धन दिया जाना चाहिए और कार्यकर्ताओं को उनकी चिन्ता करने या चंदा एकत्र करने में अपनी शक्ति खर्च करने की जरूरत नहीं होनी चाहिए।

बिना धन के कार्य

साम्प्रदायिक झगड़े, मुकदमे, अधिवेशनों की शान और दिखावे, पत्र-व्यवहार, समाचार-पत्रों के प्रकाशन, धर्म के नाम और संस्कृति के नाम पर लोगों की भावनाएँ उभाड़कर तार, शिष्टमण्डल आदि न होनेवाले

नुकसान यह होता है कि संस्था की सजीवता नष्ट हो जाती है। वह निर्जीव मशीन बन जाती है और कार्यकर्त्ताओं का पुरुषार्थ नष्ट हो जाता है। उनमें वह स्वाभिमान, वह कर्तव्य-शीलता, संघर्षों का मुकाबला करने का वह साहस नहीं रहता जो नित चुग्गा चुगने वाले पक्षियों में रहता है, उस साधु में रहता है जो रोज अपना दाना-पानी जुटाता है, उस मजदूर में रहता है जो रोज पसीना टपकाता है, उस किसान में रहता है जो रोज हल चलाता है। ब्याज धन का मित्र भले ही हो, जीवन का शत्रु है। इसलिए ब्याज की अपेक्षा श्रम पर कार्य करने की दिशा हम में होनी चाहिए।

अधिक धन अनावश्यक है

लेकिन धन के बिना अगर काम नहीं ही चलता है तो वह उतना ही प्राप्त करना चाहिए जितना किसी कार्य के लिए आवश्यक हो। एकबार की अपेक्षा कोई दो बार का भोजन कर ले तो वह पहले के कई दिनों का भोजन भी दूसरे दिन खो देगा। और भविष्य में भी शायद दो-चार दिन भूखा रहना पड़े। यही हाल संस्थाओं के धन का भी है। जो कार्य आवश्यक रूप में हमारे सामने हो और समाज उसके लिए तैयार हो तो ही धन एकत्र करना चाहिए। समाज की चिंता अपने सिर पर लेकर निराश और उद्विग्न होना व्यर्थ है।

सारांश

इस सब लिखने का सारांश पाँच पंक्तियों में आ सकता है :

१. जो काम धन के बिना नहीं चलता उसके लिए उतना ही धन [illegible] किया जा सके।

२. [illegible] और [illegible]

३. जिन से धन लिया जाय उनके प्रति आदर और सद्भाव रखा जाय। किसी की अनुचित प्रशंसा न की जाय।

४. धन लेनेवाले सचाई और ईमानदारी से ही बिना किसी स्वार्थ और छल के धन प्राप्त करने का प्रयत्न करें। उनका कार्य ऐसा हो कि वे अपना विश्वास जनता में बना रख सकें।

५. आवश्यक कार्य वे ही हो सकते हैं जिनसे सामान्य रूप से मनुष्य-जीवन को सुखी बनाने में सहायता मिल सकती हो।

आशा है, इस विषयपर समाज का विचारक-वर्ग, धनिक-वर्ग और कार्यकर्ता-वर्ग गम्भीरता से विचार करने की कृपा करेगा। धर्म और संस्कृति की रक्षा के नाम पर जो नारे आज लगाए जाते हैं उनका जीवन से कितना सम्बन्ध है, और वे कितने उपयोगी हो सकते हैं, इसपर भी विचार किया जाय।

: ७ :

निष्क्रिय वैराग्य

जमनालाल जैन

वैराग्य और समता

भारतीय धर्मों में वैराग्य को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। वैराग्य का अर्थ राग-विहीनता किया जाता है। राग को ममता का पर्यायवाची कहा गया है। धर्माचार्यों ने कहा है कि ममता आदमी को गिराती और फँसाती है। ममता में फँसा और उलझा प्राणी समता की व्यापकता को ग्रहण नहीं कर पाता। जो समता को ग्रहण नहीं कर पाता, विषमता उसका गला दबाए रहती है। कहा जाता है कि ममता और विषमता का बोझ है। दोनों के नष्ट होनेपर ही नौका समता के किनारे लग सकती है।

प्रेम

पर, प्रेम भी एक शब्द है। उसके महत्त्व को भी पारस्परिक व्यवहार में स्वीकार किया गया है। ममता प्रेम के अतिरिक्त क्या है जो सब के प्रति होनी चाहिए ! अगर पारस्परिक प्रेम नष्ट हो जाय तो एक तो द्वेष प्रत्यक्ष होगा, या हो सकता है कि मनुष्य जीवित भी न रह सके।

शिशु की ममता

एक नवजात शिशु है। वह क्षण प्रति-क्षण बढ़ता है। माता-पिता और पास-पड़ोसियों को अपनी स्वाभाविक चेष्टाओं द्वारा आनन्द प्रदान करता है। उसकी क्रियाओं को देख सब मुग्ध हो जाते हैं। उसे गोदी में लिया जाता है, उसे पुचकारा जाता है, उसकी बलैया ली जाती हैं। यह सब ममता के बिना नहीं हो पाता। ममता अगर नहीं होती तो प्रेम को

बाधक करनेवाली कोई भावना नहीं है जो हमें बच्चों की ओर आकर्षित कर सके। यह ममता अस्वाभाविक नहीं है। बच्चा किलकारता है तो हम भी उसके साथ हो लेते हैं। वह रोने लगता है तो उसे विविध आकर्षणों द्वारा चुप करने और खुश करने के प्रयत्न किए जाते हैं। यह अगर नहीं किया जाता है तो कहना चाहिए और कहा ही जाता है कि वह आदमी कैसा या कठोर है जो बच्चे के प्रति भी स्नेह या ममता प्रकट नहीं करता। सीधे शब्दों में वह हृदय-हीन समझा जाता है।

ममतामय साधु

महाव्रती साधु ऐसी स्वाभाविक ममता से दूर रहकर साधना नहीं कर सकता। उसे भी समाज में आकर या उसमें रहकर उपदेश करना ही होता है। जब कोई श्रावक किसी नन्हे से बालक को अपनी गोदी में लेकर मुनि के समीप पहुँचता है और विनय पूर्वक कहता है: "महाराज! यह अपना ही बालक है" तब उसके सुन्दर मुखड़े पर महाराज की दृष्टि पड़ जाती है और वे उस पर प्रसन्न हो आशीर्वाद के रूप में हाथ या पीछी फेर देते हैं। श्रावक को इससे सन्तोष होता है। वह समझने लगता है कि अब मेरे बच्चे का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा। जिसे साधु का आशीर्वाद मिल गया, बुराइयाँ उसका पीछा नहीं कर सकतीं। मुझे भी बचपन में एक साधु (देवजी) ने पीछी और आशीष दिया था। उमर मेरी कोई पाँच साल की थी। उस समय [illegible] था। उनके उप-देश और [illegible] नहीं थी, [illegible] पीछे लगी रही, लेकिन [illegible]। [illegible]

[illegible]

[illegible]

साधु ऐसा नहीं करता उसका या किसी साधु-समूह का सामाजिक आदर कम हुए बिना न रहेगा। इस से मेरा मतलब यह है कि उनके वैराग्य यानी शुष्क असामाजिकता पर बनता की श्रद्धा तो रहेगी ही, लेकिन भक्ति और निकटता का सम्बन्ध टूटता जाएगा।

अपेक्षित आशीर्वाद

देखा गया है कि बहुत-से स्त्री और पुरुष देव, शास्त्र और गुरु की भक्ति और पूजा इसलिए करते हैं कि वे समझते हैं कि ऐसा करने से उन्हें धन की प्राप्ति होगी, पुण्य का संचय होगा, समाज में प्रतिष्ठा होगी, सन्तान का लाभ होगा आदि। इस लाभ और प्राप्ति की न्यूनाधिकता पर ही भक्ति की न्यूनाधिकता अवलम्बित रहती है। यह अपेक्षा सैद्धान्तिक दृष्टि से चाहे कैसी ही अनुचित हो, पर जो निरागी है उसे इन अपेक्षा करनेवालों को आशास्पद या सामात्मक आशीर्वाद देना ही पड़ता है।

साधुत्व और समस्याएँ

व्यक्ति है कि समाज है और जहाँ समाज है वहाँ संघर्ष और संगठन भी है। कुछ धार्मिक, कुछ आर्थिक और कुछ सामाजिक यों कुछ-न-कुछ समस्याएँ समाज और जीवन में उठती ही रहती हैं और उनका निर्णय पक्षपात, अज्ञान, स्वार्थ और मोह-द्वेष के कारण सही-सही नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में स्वभावतः समस्याओं को सुलझाने के लिए समाज मुनि की ओर आकर्षित होती है। पर, उन समस्याओं और संघर्षों का निपटारा मुनि शायद ही करते हैं। वे कहते हैं : "इन सामाजिक झगड़ों या बखेड़ों से हमारा क्या सम्बन्ध ? हमें तो अपना आत्म-कल्याण करना है। अपने झगड़े तुम आप जानो।" कुछ इस उत्तर को वैराग्य की पराकाष्ठा समझ उपेक्षा कर देते हैं और कुछ टीका-टिप्पणी भी करते हैं।' इस तरह मालूम होता है कि समाज में साधु-वृत्ति के विषय में दो विचार-

धाराएँ हैं : एक, उन्हें समाज से बिलकुल भिन्न समझनेवाले लोग हैं और दूसरे उनपर समाज-निर्माण का उत्तरदायित्व लादते हैं। अपने अपने दृष्टिकोण से दोनों सही हैं, ऐसा मैं मान लेता हूँ। लेकिन मैं चाहूँगा कि कोई मुझे बताए कि अगर धर्म विश्व-प्रेम सिखाता है और समभाव बताता है तो समाज से अलग रहने में, उसकी समस्याओं को न छूने में कौनसी साधना होती है ? और जो समस्याओं को समझ नहीं पाता, जो निर्णय देने में असमर्थ है, उसपर केवल मुनित्व के कारण ही समाज-निर्माण का उत्तरदायित्व लाद देना कहाँ तक उचित है ?

सांसारिकता का त्याग

कहते हैं कि जो वीतरागी हैं वे संसार से परे रहते हैं यानी कि वे संसार से सम्बन्ध तोड़ लेते हैं। तीन लोक की व्याख्या करते हुए दर्शन कहता है कि मुक्त जीव भी लोक के बाहर अलोक में नहीं जा सकता। अब संसार छोड़ देने का अर्थ सांसारिकता का त्याग मानना चाहिए। यह सांसारिकता क्या है कि जो आदमी को अधार्मिकता में फँसाती है ? धर्म ने सांसारिकता का तिरस्कार किया है। यानी उसकी दृष्टि में जो असांसारिक है वह धर्मात्मा कहलाता है। पर सांसारिकता क्या इतनी बुरी है कि उसका त्याग ही किया जाना चाहिए ? फिर जीवों के पारस्परिक उपग्रह का क्या अर्थ रह जाएगा ?

संसार की स्वीकृति

ी चर्या का पूरा प्रबन्ध करते हैं। वे साधु भी जहाँ जाते हैं वहाँ के सम्पन्न लोगों की कृपा के आकांक्षी रहते हैं। यद्यपि साधुओं का आहार सात्त्विक, सादा और अल्प ही होता है, परन्तु उसके लिए आयोजन और ठाठ किसी पूँजीवादी भोज से कम नहीं होता। और यह आहार उन्हींके यहाँ या उसी जाति में ग्रहण किया जाता है जो सम्पन्नता के कारण ऊँची कहलाती है। यह अगर धन की महिमा नहीं है तो अपरिग्रह का दर्शन भी इसमें शायद ही होता है।

अनासक्ति और वीतरागता

गीता का एक शब्द है 'अनासक्ति'। अर्थात् कर्म करते हुए भी जो उसमें संकुचित स्वार्थ नहीं देखता और लालच नहीं रखता वह अनासक्त माना जाता है। अच्छा काम करो और सब के लिए करो और उस में भी अनासक्त रहो—यह अनासक्ति का अर्थ है। खाने को भोजन सुस्वादु मिले या चाहे जैसा, पहनने को वस्त्र चाहे जैसा मिले या न मिले, सब काल में जो सहज रूप रहता है और सुख-दुःख नहीं मानता उसे ही वास्तव में अनासक्त कहा जाना चाहिए। 'वीतराग' शब्द का भी इसी अर्थ में उपयोग करना चाहिए। जो वैराग्य कर्म के क्षेत्र में निष्क्रियता फैलाता है उसे धर्म तो नहीं, दम्भ ही कहना चाहिए। जगत से दूर रहकर आत्म-साधना की जाती है और उसका महत्त्व है, लेकिन यह एकान्त साधना अगर जगत की सेवा करने से विमुख करती है या सम्बन्ध तोड़ती है तो वह स्वार्थ ही होगा। एकान्त-साधना थकावट के समय के विश्राम जैसी होनी चाहिए। क्योंकि यह विश्राम अधिक शक्ति प्राप्त करने के लिए किया जाता है और वह आवश्यक भी है। वीतरागताका अर्थ तो रागद्वेष-विहीनता ही है। लेकिन आज तो वह कर्म-विहीनता तक बढ़ गया है। किसी युग में यह अर्थ उपयुक्त रहा हो, पर सदा परिस्थिति एक सी तो रहती नहीं।

अनुपयोगी साधना

कुछ कहेंगे और कहते ही हैं कि अगर काम ही करना होगा तो

सकते तो यह कहने में क्या अर्थ है कि दुनिया स्वार्थी है। अपनी अकर्मण्यता को छिपाने के लिए धर्म के शब्द-नीरस दूसरों की निंदा करना कहाँ तक उचित है?

वैराग्य के विद्यालय

अब तो वैराग्य के विद्यालय भी देखने में आते हैं। छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं को उन में प्रविष्ट किया जाता है। उन्हें विरागी बनने की शिक्षा दी जाती है। विराग पैदा करने के लिए संगीत-शृंगार का भी अवलम्बन लिया जाता है। स्वाद-वर्धी बनने के लिए मिठाइयाँ भी खिलाई जाती हैं। इन विद्यालयों ने यह सिद्ध कर दिया है कि वैराग्य जन्म-जात नहीं होता। अगर ऐसा है तो यह हर्ष की बात है। पर शायद मेरा यह समझना गलत हो। इस में शिष्यों की संख्या का मोह है या वैराग्य का अनुराग, कौन जाने? पर इतना निश्चित है कि ये विद्यालय शरीरधर्म और समाजधर्म की अवहेलना या उपेक्षा कर जिस आत्मधर्म का प्रचार कर रहे हैं वह इतना निष्क्रिय तथा पूंजीवादी कोटि का है कि उससे समाज को, उनको और उनकी धर्म-शीलता को भारी क्षति पहुँच रही है।

नेताओं के दर्शन

कुछ साधु अपने नाम से पत्र-व्यवहार नहीं करते क्योंकि उन्हें डर है कि इससे पारस्परिक मोह उत्पन्न होता है। पर बात-चीत तो होती ही है। कई बार तो प्रतिष्ठित और सरकार-मान्य नेताओं से मिलने भी मुनि पदार्पण करते हैं। किसी का बच्चा मर जाय या घर लुट जाय तो उसे सांत्वना देने जाने में मुनि शायद धार्मिक बाधा महसूस करेंगे, पर राज्याधिकारियों से मिलने में उन्हें गौरव महसूस होता है। वैराग्य को टिकाए रखने के लिए वे संसार के व्यवहार और शृंगार से इतना डरते हैं कि सामाजिक पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ने में भी उन्हें धार्मिक बाधा [illegible] की शंका होती है। पर समय-समय पर [illegible] जैसी चर्चा करना, [illegible], समाज की

पड़े। कहीं अपरिग्रह के प्रतिनिधियों की असंग्रहणीय सामग्री भी स्वा-लम्बन के बहाने कपट कला की अभिव्यक्ति ही न रह जाये।

सच्चा वैराग्य

यों वैराग्य के कई भेद-प्रभेद हो सकते हैं। एक तो वह है जो अभावों में से निपजता है। दूसरा दुर्बलताओं और निराशा में से प्रकट होता है। पर एक वैराग्य वह भी है जो तृप्ति में से उदित होता है। मेरा ख्याल है कि तृप्ति का या अनुभव का वैराग्य ही सच्चा और स्थायी होता है। न मिलने पर लोमड़ी के लिये अंगूर खट्टे हो सकते हैं, पर मिठास भी मिलने के पूर्व समाप्त नहीं होती। हम प्रायः देखते हैं कि बाजार की परिचित वस्तु स्वाद में सुस्वादु और रुचिकर लगती है, लेकिन उस से अधिक उत्तम और अपरिमित वस्तु यदि घर की बनी होती है तो उस के प्रति आकर्षण नहीं रह जाता। अनुभव में अनासक्ति ही सच्ची स्थिति है। अंगूर पास में हो और फिर लोमड़ी उन्हें खट्टा बताकर छोड़ दे तो ही वह सच्ची और साहसपूर्ण कही जायगी। हमारे अधिकांश साधु देखें कि वे किस कोटि में आते हैं।

आज यदि हमारे साधुओं में सहज-वैराग्य या समाज को सुख पहुंचाने की कल्पनाशीलता नहीं दिखाई देती तो इसका कारण यही हो सकता है कि वे शास्त्रों के वादों और युग की स्थिति से दूर होकर शब्दों और रूढ़ियों में लिपट गए हैं। और मन तो यह है कि कर्तव्य पर रूढ़ि का अधिकार दूर ही बने की ओर हो चली है।

कर्म-शील वैराग्य

[illegible] स्थिति दी है। [illegible] दृढ़ता कहीं [illegible] हैं [illegible]

: ८ :

यह असमता क्यों ?

महात्मा भगवानदीनजी

असमता का प्रश्न

डाकू से लेकर संत तक, रंक से लेकर राजा तक, मरियल से लेकर पहलवान तक, मूरख से लेकर महा-पंडित तक सब एक ही तरह से माँ के कोख में जगह पाते हैं, एक ही ढंग से जन्म लेते हैं, एक ही तरह रोते, हँसते और दूध पीते हैं, एक ही धरती माता के दिये टुकड़ों पर पलते-पुसते हैं, एक ही तरह की हवा और धूप लेकर फलते-फूलते हैं और एक तरह का पानी पीकर ताजगी हासिल करते हैं। फिर यह क्या बात है कि कोई डेढ़ हाथ का बौना रह जाता है और कोई पछत्था जवान बन जाता है। कोई गंगुआ तेली रह जाता है और कोई राजा भोज हो जाता है। कोई आये दिन दर दर की ठोकरें खाता फिरता है और कोई अपने दरवाजे पर आये हुए सफेदपोशों को दर्शन देता और अपने पाँव पुजवाता है। ये ऐसी बातें हैं कि छोटे-बड़े सभी को खटकनी चाहिए। पर अचरज तो यह है कि सौ में से एक के मन में भी इस तरह की खटक नहीं पाई जाती। आज के समाजवादियों ने और साम्यवादियों ने सौ में से एक दो में ऐसी खटक पैदा की हो है पर उस खटक में बनावट बहुत है। और वह अपने ढंग की अलग होते हुए भी हमें बेढंगी और भद्दी जँचती है। उस खटक में बाहरी खोंच बेहद और भीतरी खोंच नाम को [illegible] नहीं। [illegible] राजा को गद्दी से हटाकर उस की गद्दी पर जमकर [illegible] है। उनका यह कार्य उस बीमार जैसा है जो उठ [illegible] और इस तरह से उसके छीनने उसके खाने के लिए बिना [illegible]

होड़ कर रखी है और वह अपनी खिचड़ी खाते खाते किसी पहलवान के हलवे के थाल पर जा लपके और ज्यादा खाने के बाद यह मानने लगे कि वह तन्दुरुस्त हो गया। जिस तरह वह मरीज़ बेहद टोटे में रहेगा उसी तरह से यह रंक भी राजा की गद्दी हथिया कर और ज्यादा रंक बन जायगा। ऊपर से पैदा हुई तड़प जो रंग लाती है वह न एक के लिए अच्छा होता है और न समाज के लिए। ऊपर की तड़प एक आदमी को यह सोचने समझने का अवसर ही नहीं देती कि वह क्यों रंक रह गया। वह रंकपने को ही किसी की देन समझता है। और यही समझता है कि जिस तरह यह राजा के हाथ में है कि वह जो चाहे जिस को सिपाही की वर्दी पहना दे और जो चाहे जिसको हवलदार की और जो चाहे जिसको सेनापति की। उसको यह पता ही नहीं कि सिपाही, हवलदार और सेनापति की वर्दियाँ यों ही नहीं बाँटी जाती हैं। सिपाही में सिपाहीपने की परख की जाती है। उसे तब वर्दी मिलती है। वैसे ही परख की कसौटी पर हवलदार और सेनापति भी कसे जाते हैं तब वे उस वर्दी के हकदार बनते हैं। पर जिस आदमी में बाहर से तड़प पैदा की गई है उसे इतने गहरे पानी में पैठने की ज़रूरत क्या? बाहरी तड़प वाला तो बाहरी सीधा रास्ता ही अख्तियार करेगा और वह यही कि राजा को गद्दी से ढकेलो तो एक छन में राजा बन जाओ। हो सकता है कि इस तरह के काम से किसी एक को थोड़ी देर के लिए छोटी-मोटी सफलता मिल जाय पर सारे समाज की भलाई चाहने वाले की नज़र इस ओछी बनावटी सफलता पर भूले-भटके पड़ भी गई तो टिक न सकेगी। वह ऐसी ओछी सफलता से न कोई सीख ले सकता है और न ऐसा कोई अटल सिद्धान्त बना सकता है जो समाज के सब आदमियों पर अलग-अलग काम में लाया जा सके। राजा तो गिनती का एक होता है, पर सब रंकों को राजा की गद्दी न दिला सकता है और न उसे ठीक समझता है। वह यह ज़रूर जानता है कि हर रंक में राजा होने की योग्यता है और रंक में ही उस योग्यता को [illegible] पैदा करना और

पर कुछ दिनों रंगरेलियाँ उड़ा सकता है पर दूकान को ठीक ढंग से चला नहीं सकता। एक अपढ़ किसी प्रोफेसर की कुर्सीपर जा डट सकता है पर सिवाय इस के कि वह विद्यार्थियों के खिलवाड़ की चीज़ बन जाय, उन्हें क्या बना सकता है! इस तरह के विचार उसे ऐसी जगह पहुँचा देते हैं जहाँ पहुँचकर समाज में फैली हुई असमता का ठीक ठीक कारण वह समझ सकता है और अब उसको असमता में ही समता दिखाई देने लगती है। वह यह समझने लग जाता है कि चींटी और हाथी में एकसा आत्मा है। पर चींटी किसी तरह भी हाथी के देह को नहीं संभाल सकती और न हाथी के आत्मा में इस वक्त इतनी ताकत है कि वह चींटी के देह में समा जाए। इस तरह के विचार उसे इस तत्त्वपर ले आते हैं कि वह आदमी की यह खोज करे कि आदमी कितने अंश में स्वाधीन और कितने अंशों में पराधीन है।

देशगत असमानता ?

इस में आदमी का क्या वश है कि वह हिन्दुस्तान में पैदा हो गया। हिन्दुस्तान में पैदा होने के नाते वह हिन्दुस्तानी कहलाने लगेगा और अब वह हिन्दुस्तानियों का अपना और चीनियों, जापानियों, रूसियों का पराया बन जायगा। अब वह कितना ही उन लोगों को प्यार करे, उनका अपना नहीं हो सकता। कुछ चीनी, जापानी, रूसी समझदार तरह तरह की आड़ी टेढ़ी परख के बाद उसे किसी तरह अपना मान भी लें तो सब जापानी तो नहीं मानेंगे और उन मुल्कों के हिन्दुस्तान के साथ लड़ाई छिड़ जाने के बाद तो वह समझदारों की नजर में भी उनके मुल्क का दुश्मन समझा जाने लगेगा और अगर वह इन मुल्कों में से कहीं हो तो जेल खाने के सिवाय उस के लिए कोई जगह नहीं रह जायगी। इस का हिन्दुस्तान में पैदा होना या हिन्दुस्तानी होना ना काफी सबूत है कि वह [illegible] नहीं। और [illegible] कोई [illegible]

है तो वह धोखेबाज है, धोखा देना चाहता है और अगर सच्चा है तो देश-द्रोही है। अब बताइये वह हिन्दुस्तानियत जो उस के मर्जी के बिना उस पर थोप दी गई है उस का वह क्या करे? वह उस के लिए क्या बन गई है। और फिर दुर्रा तो यह कि इस जबरदस्ती थोपी हुई चीज़ पर आदमी अभिमान की बड़ी से बड़ी हवेली खड़ी कर लेता है। बस, यह जबरदस्ती की हिन्दुस्तानियत, जिस के गढ़ने में आदमी का जरासा भी हाथ नहीं है असमता की बीज बन बैठती है। इस बीज के बीजपन को उखाड़े बिना असमताकी बेल को उगाने से नहीं रोका जा सकता।

जाति-गत असमानता ?

आदमी का इस में क्या बस है कि वह एक हिन्दूघर में पैदा हो और अब उसे चाहे-अनचाहे अपने को हिन्दू कहना पड़ेगा और कुल के अनुसार चोटी रखानी होगी, जनेऊ पहनना पड़ेगा और पंथ के अनुसार तिलक छाप लगाना होगा और भी न जाने क्या क्या करना होगा। यह हिन्दूपन भी आदमी के सिर जबरदस्ती का थोपा हुआ नहीं तो और क्या है? कोई बच्चा माँ के पेट से हिन्दू या मुसल्मानी निशान लेकर पैदा नहीं होता। आज तक इन्सान न कोई ऐसी मशीन बना पाया है और न ऐसे साधन जुटा पाया है जिसपर कस कर या जिसकी मदद से वह किसी बच्चे के बारे में यह बता सके कि वह हिन्दू माँ के पेट से पैदा हुआ है या मुसल्मान माँ के पेट से। वह हिन्दू बाप के वीर्य से है या मुसलमान बाप के नुत्फे से। कुदरत ने ऐसा भेदभाव रक्खा ही नहीं और वह रखता भी क्यों? उसे क्या पता था कि यह आदमी का बच्चा जिसको उसने इस सारे पृथ्वीपिंड का मालिक बनाया है वह इसको पकड़ेगा, सूरज के टुकड़े काट डालेगा और फिर उस के हिन्दुस्तान और चीन जैसे और छोटे टुकड़े कर डालेगा और फिर चावकर पजाब, [illegible] जैसी मेढ़कियाँ बना बैठेगा और उस कुदरत को यह भी क्या पता था कि यह आदमी का बच्चा जि

कसौटी से पाई चीज के साथ हम किसी तरह भी ऐसा व्यवहार नहीं कर सकते जैसा अपनी कमाई हुई चीज के साथ। अपनी कमाई हुई चीज की रग-रग से हमारी जानकारी होती है, उस के कमाने के हथकण्डों से हम वाकिफ होते हैं, उस के टूटने-फूटनेपर उसे सुधार-सवार सकते हैं। इतना ही नहीं उस के कमाने के हथकण्डे हम किसी और को भी सिखा सकते हैं। उस के बारे में हम यह भी विश्वास होता है कि हमारी तरह से कोई और भी उसे जल्दी ही आसानी से कमाना सीख सकता है और यह जानकारी हम में अपनी कमाई हुई चीज की वजह से घमन्ड को बहुत कम पास आने देती है या बिल्कुल पास नहीं आने देती। कसौटी से पाई चीज के बारे में इस से एकदम उल्टा होता है। न उसे हम ठीक समझते हैं और न उसका ठीक ठीक मोल ही आंक सकते हैं और कभी आंकने ही लग जाए तो हजार में से नवसौ निन्नानवे आदमी उस के दाम इतने आंकेंगे जिसको दूसरे सुनकर दंग रह जाएँ। यही वजह है कि आदमी जिस धर्म में पैदा होता है उसकी कुछ भी जानकारी न होने से या ठीक ठीक जानकारी न होने से उस का मोल बेहद ऊँचा आंक जाता है लेकिन अगर उसे अपनी जिन्दगी में कभी पूरी तरह से उस धर्म के जांचने का मौका मिल गया जिस में वह पैदा हुआ है, मूर्खता का पता लगता है। उसने भूल सिर्फ इतनी ही की होती है कि उसने अपने धर्म का मोल किसी दूसरे धर्म को सामने रख कर आंका होता है, जब कि उसकी जानकारी दोनों ही धर्मों के बारे में शून्य होती है। पर जब जब वह अपने धर्म की जाँच करता है और सच्चे जी से जाँच करता है तो वह उसे चमकता हुआ तो मालूम होता है, पर साथ ही साथ उसे मालूम होता है कि दूसरा धर्म भी उतना ही चमकता हुआ है। और उसे यह भी मालूम होता है कि इस तरह की चमक उस के अन्दर भी मौके बेमौके पैदा होती रही है। पर इतनी दूर तक पहुँचने का अवसर किसी किसी को ही मिल पाता है। इसलिए उस

सोने की डली को भी वह मुंह में देता था शायद उतने प्यार से और उतनी देर तक उसे मुंह में रखना पसन्द न करेगा, जितने प्यार से और जितनी देर तक उसने मिट्टी की डली अपने मुंह में रखी थी। बाप या बच्चे उसे अमीरी सिखाने में लगा रहता है पर लायक नहीं हो पाता। बढ़िया से बढ़िया और साफ़ से साफ़ कपड़ों में धूल मलने में उसे कोई झिझक नहीं होती। वह किसी किसी काम के करने में नाराज़ अगर है पर वह उन्हें कर बताना यही चाहता है कि अमीरी बहुत खराब चीज़ है और वह अपनाने की चीज़ नहीं है। तुम लोग क्यों मुझे ऐसी खराब चीज अपनाने को जोर देते हो। यह साफ़ कहता मालूम होता है कि रेत से बढ़कर रुई के गद्दे नहीं हो सकते और घास से बढ़कर मखमल का फ़र्श नहीं हो सकता और फूलों से बढ़कर सोने-चांदी के बनावटी फूल नहीं हो सकते। मतलब यह कि वह अपने हर काम में यही साबित करना चाहता है कि कुदरत ने सोच-समझ कर उसे अमीर के घर पैदा नहीं किया है और न वह खुद ही सोच समझ कर वहां पैदा हुआ है। इस पैदा होने में शायद कोई भेद की बात भी हो पर वह इतनी थोड़ी निकलेगी जिसके जान लेने से हम बात के साबित करने में कोई मदद न मिलेगी कि पुण्य-कर्म के फल से कोई बालक अमीर घराने में जन्म लेता है और जो ज्यादा बात निकलेगी वह सिर्फ़ यही साबित कर सकेगी कि यह निरी आकस्मिक घटना है और इतनी ही आकस्मिक है जितना एक ईंट का मकान की बुनियाद में लगना या मुंडेर पर लगना।

अमीरी से सुख भी नहीं मिलता

सुख-दुख के लिहाज से भी घर में पैदा होकर ज्यादा सुख नहीं मिल पाता। बीमारियों पर अमीरी का कोई अधिकार नहीं है। अगर बीमारियों पर किसी को कुछ अख्तियार है तो वह है सफ़ाई को, खुली हवा को चांदनी और धूप को, चश्मे के बहते हुए ताज़ा पानी को और दवा, दूध,

से बढ़िया बाग-बगीचे उनके लिए तैयार किये गये थे और रथ सवारियों की तो कोई गिनती ही न थी। क्या इसके बाद भी किसी को शक रह सकता है कि अमीर घर में पैदा होना जेलखाने में पैदा होना है और फिर वह पुण्यकर्म एवं नीच काम करने की सोच सकता है!

असमता की जड़—अमीरी का घमण्ड

हम यह तो नहीं कहना चाहते कि अमीर घराने में जन्म लेना पाप का फल है, क्योंकि यह कहकर तो हम वही भूल करेंगे जो इसको पुण्य-कर्म का फल बताकर कर रहे हैं। हम यहाँ पुण्य पाप के पचड़े में नहीं पड़ना चाहते। हमें तो सिर्फ इतना ही कहना है कि अमीर घर में अगर कोई आदमी पैदा हुआ है तो इस में उसका कोई कसूर नहीं, क्योंकि यह बात उस के बूते के बाहर की थी। कसूर तो वह यह करता है कि इस जबरदस्ती सर पड़ी चीज़ को ऐसे ही अपनाता है मानो उसने बड़ी मेहनत और तपस्या से अमीर घर में जन्म पाया हो। इस भूल का नतीजा यह होता है कि वह अमीर और गरीब में फरक करने लगता है। जिस फरक को न वह पैदाइश से साथ लाया था और न अपने बचपन में किसी तरह मानकर देता था। वह फरक उस में उसकी मरजी के बिना ठूंसा गया है और अब उसको वह इस तरह अपनाता है, मानो जानबूझकर उसने उसे शौक के साथ लिया हो। यही वजह है कि वह अपने आपको एक ऐसी जगह खड़ा कर लेता है जहाँ खड़े हो कर समाज की तराज़ू की डंडी किसी एक तरफ को झुक जाती है और समाज की समता बिगड़कर समाज में खलबली मच जाती है और वह तूफान उठता है जो औरों को ही नुकसान नहीं पहुँचाता उसको भी आफत में डाल देता है। बस, ऐसी सिर पर थुपी अमीरी का घमण्ड करना भूल ही नहीं, मूर्खता भी है। इतने सुभीते के लबादे तन पर लाद कर हम समाज की सेवा के लिए निकल पड़ते हैं और जब उस में सफल नहीं होते जिस ढंग पर करना चाहते थे तब अपनी असफलता

बड़ल नहीं हैं, हम अपनी भी कोई चीज़ लेकर जन्मे हैं और वह है हमारा पुरुषार्थ, हमारा व्यक्तित्व, हमारी समझ, हमारा अन्तरात्मा। हम अपने अभिमान को सब ओर से हटा कर इसी एक अन्तरात्मा या ज़मीर पर पुंजीभूत कर दें, पानीला इकट्ठा कर दें तो हम बहुत जल्दी समाज में अपनी ऐसी जगह बना लेंगे जो ऊंची तो होगी पर असमता को पैदा न करेगी, जो बड़ी तो होगी पर दूसरे उसे देखकर अपने में छोटे पने का अनुभव न करेंगे, जो महान् तो होगी पर समाज में से किसी एक में भी तुच्छता के पाँव न जमने देगी। हमारा अन्तरात्मा अपने आप हमें ऐसे रास्ते ले चलेगा जहाँ काँटे अपने आप फूल में बदलते चले जायेंगे और फिर अन्तरात्मा की आजादी की ऐसी बाट आ जायगी जैसे खरबूजों के बेल में एक खरबूजा पकने से अनेकों खरबूजे पकने का तांता बंध जाता है। थोड़ी सी तल्खी तो इस काम में भी होगी पर वह मीठी टीस की तरह खुशी खुशी बरदाश्त कर ली जायगी या बच्चा पैदा होने के वक्त की पीर की तरह रोते हुए भी सहन करने में दिल के अन्दर एक गुदगुदी बनाये रक्खेगी।

अन्तरात्मा की समता से ही समता फैल सकती है

यह सवाल न उठाइये कि अन्तरात्मा आपको कुएँ में जा गिरायगा। अन्तरात्मा परमात्मा का अंश है। उस से ऐसा काम कभी नहीं हो सकता। हाँ, झूठे अभिमान के साथ जो आत्मा बन बैठता है वह अन्तरात्मा नहीं होता। वह मन और मस्तक का षडयंत्र होता है। लोग नासमझी से उसे अन्तरात्मा की पुकार कह बैठते हैं। यहूदी ईसा का अन्तरात्मा जो कुछ बोला वह ईसाई धर्म नहीं है। ईसाई धर्म तो ईसा के स्वतंत्र अन्तरात्मा की पुकार है। मुसल्मान या और किसी धर्म वाले मुहम्मद की अन्तरात्मा की पुकार इस्लामधर्म नहीं था और न है, वह तो मुहम्मद की स्वतंत्र आत्मा की पुकार है और वही तो ईश्वरीय इल्हाम है। इसी तरह बुद्ध और महावीर सभी देश, धर्म, और कुल के अभिमान से एक दम परे

होकर ही स्वतंत्र और स्वाधीन अन्तरात्मा को पहचान सके, उसकी सुन सके और उसी की आवाज को लोगों तक पहुँचा कर किसी हदतक समाज की असमता को मिटाने में सफल हुए और समता की स्थापना करने में कामयाबी पा सके। बस, समता के लिए अन्तरात्मा की समता सब से ज्यादा जरूरी है। अपने भीतर की समता के बल से ही बाहर समता फैलाई जा सकती है।

: ९ :

व्यक्ति का पुनर्निर्माण

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

आज पुनर्निर्माण की चर्चा है, व्यक्ति के नहीं, समाज के, क्यों नहीं दूसरी के। क्या व्यक्ति का पुनर्निर्माण एकदम उपेक्षा की चीज है?

यह सत्य है कि व्यक्ति समाज की उपज है और यदि सारा समाज टूटा-फूटा रहे तो एक व्यक्ति भी सीधा नहीं खड़ा हो सकता, किन्तु फिर समाज भी तो व्यक्तियों का ही समूह है, यदि व्यक्ति व्यक्ति की ओर ध्यान न दे अथवा व्यक्ति अपनी ही ओर ध्यान न दे तो समाज भी आखिर कैसे खड़ा हो सकता है?

अंग्रेजी की एक प्रसिद्ध तुकबन्दी का भावार्थ—यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने सुधार की ओर ध्यान दे तो एक जाति का निर्माण कितना आसान है।

बौद्धधर्म में सम्यक् व्यायाम के चार अंग कहे गए हैं—

१—इस बात की सावधानी रखना कि अपने में कोई अवगुण न आए।

२—इस बात का प्रयत्न करना कि—आये अवगुण दूर हो जायें।

३—इस बात की सावधानी रखना कि आये सद्गुण जाने न पायें।

४—इस बात का प्रयत्न करना कि अपने में नये सद्गुण पैदा हों।

[illegible] न आने पायें और नवीन का [illegible] [illegible] अपने [illegible] सद्गुण उत्पन्न हों।

[illegible] अवगुणों को दूर करने और सद्गुणों को लाने का प्रयत्न निरन्तर नहीं [illegible] करेंगे तो अवगुण बने ही रहेंगे और सद्गुण नहीं आ पायेंगे। [illegible] यदि इस चतुर्मुखी कार्यक्रम को घटा कर इसके केवल दो अंगों को [illegible] कर लिया जाय तो भी मैं समझता हूँ कि भगवान बुद्ध का उद्देश्य [illegible] हो सकता है।

अवगुणों को दूर करना और सद्गुणों को अपनाना ये दोनों भी क्या [illegible] की दृष्टि से एक ही नहीं हैं? इसका उत्तर हाँ और नहीं—दोनों [illegible] देना होगा।

एक आदमी को व्यर्थ बहुत बक-बक करने की आदत है। यदि [illegible] अपनी इस आदत को छोड़ता है तो वह अपने व्यर्थ बोलने के अवगुण को छोड़ता है किन्तु साथ ही और अनायास ही वह मितभाषी होने के सद्गुण को अपनाता चला जाता है। यह तो हुआ हाँ पक्ष का उत्तर। किन्तु एक दूसरे आदमी को सिगरेट पीने का अभ्यास है। वह सिगरेट पीना छोड़ता है और उसकी बजाय दूध से प्रेम करना सीखता है, तो सिगरेट पीना छोड़ना एक अवगुण को छोड़ना है और दूध से प्रेम करना एक सद्गुण को अपनाना है। दोनों ही दो भिन्न वस्तुएँ हैं—पृथक पृथक।

अवगुणों को दूर करने और सद्गुणों को अपनाने के प्रयत्न में, मैं समझता हूँ कि अवगुणों को दूर करने के प्रयत्नों की अपेक्षा सद्गुणों को [illegible] अधिक है। [illegible] कमरे में गन्दी हवा और स्वच्छ [illegible] कमरे में रहा रहे हैं नहीं, यह तो [illegible] उपाय [illegible]

ऐसी बातें पढ सुन कर हर आदमी यही कहता सुनाई देता है, जो किसी समय बिचारे दुर्योधन के मुँह से निकली थी :

'धर्म' जानता हूँ, उसमें प्रवृत्ति नहीं ।

'अधर्म' जानता हूँ, उसमें निवृत्ति नहीं ।

एक दूसरे आदमी में कुटेव पड गई—सिगरेट पीने की ही सही। अत्यधिक सिनेमा देखने की ही सही । बिचारा बहुत संकल्प करता है, बहुत कसमें खाता है, कि अब सिगरेट नहीं पीऊंगा, अब सिनेमा देखने नहीं जाऊंगा, किन्तु समय आने पर जैसे आप ही आप उसके हाथ सिगरेट तक पहुंच जाते हैं, और सिगरेट उस के मुँह तक । बिचारे के पाँव सिनेमा की ओर जैसे आप ही आप बढ़े चले जाते हैं ।

क्या सिगरेट न पीने का और सिनेमा न जाने का उसका संकल्प सच्चा नहीं, क्या उसने झूंठी कसमें खाई हैं ? क्या उस के संकल्प की दृढता में कमी है ? नहीं, उसका संकल्प तो उतना ही दृढ है जितना किसी का भी हो सकता है । तब उसे बार बार असफलता क्यों होती है ? होती है और बार बार होती है ।

इस 'असफलता' का कारण और 'सफलता' का रहस्य कदाचित् एक ही उदाहरण से समझ में आ जाए ।

जमीन पर एक छः इंच या एक फुट चौड़ा-लम्बा लकड़ी का तख्ता रखा है । यदि आप से उस पर चलने के लिये कहा जाय तो क्या आप चल सकेंगे ? क्यों नहीं ? बड़ी आसानी से । अब इसी तख्ते के एक सिरे को किसी मकान की छत पर रख दिया जाय और शेष तख्ते को यूँही [illegible] अ कार में आगे बढा दिया जाय आप से [illegible] पर चलने के लिये कहा जाय तो, क्या आप [illegible] नहीं चल सकेंगे ।

कोई पूछे, क्यों ! आप हम से अनेक कारण बतायेंगे, असल कारण यही है। आप नहीं चल सकते, क्योंकि आप समझते हैं कि आप नहीं चल सकते।

यदि आप आज यह विश्वास कर लें कि आप चल सकते हैं और इन लकड़ी के तख्तों को थोड़ा थोड़ा जमीन से ऊपर उठाते हुए इन्हीं पर चलने का अभ्यास करें, तो आप उन पर बड़े आराम से चल सकेंगे। सरकस वाले चलते चलते तारों पर कैसे चल लेते हैं ! बस ऐसे ही चल लेते हैं। वे विश्वास करते हैं कि वे चल सकते हैं और तदनुसार अभ्यास करते हैं। वे चल ही लेते हैं।

यदि आप किसी अवगुण को दूर करना चाहते हैं तो उस से दूर दूर रहने का दृढ़ संकल्प करना छोड़ दीजिये, क्योंकि जब आप उस से दूर रहने की कसमें खाते हैं, तब भी आप उसी का चिन्तन करते हैं। चोरी न करने का संकल्प भी चोरी ही का संकल्प है। पक्ष में न सही, विपक्ष में सही, है तो चोरी के ही बारे में। 'चोरी' न करने की इच्छा रखने वाले को चोरी के सम्बन्ध में कोई संकल्प-विकल्प ही न करना चाहिये।

यदि आप अपने संकल्प-विकल्पों द्वारा अपने अवगुणों को बलवान न बनायें तो हमारे अवगुण अपनी मौत आप मर जायेंगे।

हमें अपने संकल्प-विकल्पों द्वारा अपने सद्गुणों को बलवान बनाने की आवश्यकता है।

यदि आप की प्रकृति 'चंचल' है, आप अपने 'गंभीर स्वरूप' की 'भावना' करें। यथावकाश अपने मन में अपने 'गम्भीर स्वरूप' का चित्र देखें। अचिरकाल में ही आपकी प्रकृति बदल जायगी।

यदि आप की प्रकृति 'अस्वस्थ' है, आप अपने ही 'स्वस्थ स्वरूप' की 'भावना' करें। यथावकाश अपने मन में अपने 'स्वस्थ स्वरूप' का चित्र देखें। अचिरकाल में ही आप की प्रकृति बदल जायगी।

यदि आप की प्रकृति 'अशांत' है, आप अपने ही 'शांत स्वरूप' की 'भावना' करें। यथावकाश अपने मन में अपने 'शांत स्वरूप' का चित्र देखें अचिरकाल में ही आप की प्रकृति बदल जायगी।

शायद आपको 'गम्भीरता' 'स्वास्थ्य' 'शांति' की उतनी आवश्यकता ही नहीं जितनी दूसरी लौकिक चीज़ों की।

उन लौकिक चीज़ों की प्राप्ति में भी यह नियम निश्चयात्मक रूप से सहायक होगा, किन्तु निर्णायक नहीं।

संसार में प्रत्येक कार्य अनेक कारणों से होते हैं। यदि दूसरे कारण एकदम प्रतिकूल हों तो अकेली भावना क्या करेगी? कोई तरुण अपना शरीर बलवान बनाना चाहता है, खान-पान के साधारण नियमों का ख्याल नहीं करता, स्वच्छ हवा में नहीं सोता, व्यायाम नहीं करता, केवल भावना के ही बलपर बलवान होना चाहता है। यह असम्भव है।

भावना अपना काम करती है, किन्तु अकेली भावना खाने, पीने, स्वच्छ हवा और व्यायाम सभी की जगह भावना नहीं ले सकती।

जो बलवान बनाने की सच्ची भावना करेगा वह अपने खान, पान, स्वच्छ वायु और व्यायाम की भी चिन्ता क्यों न करेगा?

इन अर्थों में भावना को सर्वार्थ-साधिकार कहा जा सकता है।

सब भावनाओं में सुदृढ भावना एक ही है, जिसे जैन, बौद्ध, हिन्दु सभी ने अपने अपने धर्म ग्रन्थों में स्थान दिया है:

सभी के प्रति मैत्री, गुणियों के प्रति प्रमुदता,
दुखियों के प्रति दया, दुष्टों के प्रति उपेक्षा।
सचमुच इस से बढ़ कर 'ब्रह्म विहार' की कल्पना नहीं की जा सकती।

: १० :

इन भूतनि मोहि नाच नचायो

राजमल ललवानी

सच की बात मैं नहीं जानता। मुझे तो बचपन में भूत-पिशाचों की कहानियाँ सुनने का बहुत बार मौका मिला है। उनकी चमत्कारिक कहानियाँ सुन-सुनकर कभी-कभी तो उन्हें देखने और उन से बातें करने की भी इच्छा हो जाती थी। और सच मानिये, मैं इन कहानियों के भूतों को आदमी के रूप में, शक्ल में नहीं मानता था। मेरी उत्सुकता बढ़ती और कभी-कभी तो कल्पना करने लगता कि घर की दीवालों में, छतों में भी भूत रहते होंगे। अंधेरे में हूं-हूं की जो आवाज़ मेरे कानों में पड़ती उस से मुझे नींद नहीं आती और मैं डर जाया करता था। इस डर का कारण भूत के अस्तित्व की कल्पना होती। लेकिन अफ़सोस कि ऐसे भूत मुझे अब तक नहीं मिले। इसलिए जैसे-जैसे मैं बड़ा होता गया, भूत पर से मेरा विश्वास उठता गया। जब कभी सुनता कि फलाँ स्त्री या पुरुष के शरीर में भूत है और दुख देता है या किसी को उसके दर्शन हुए हैं, तो मैं हँस देता और कहने वाले की मूढ़ता प्रकट करता।

बाँटना चाहता है। आप रिश्तेदार नहीं बनें, तो भी आप के दुख में मैं तो साझीदार बन ही सकता हूँ और मैं ही आपको अपने दुख में साझीदार मान लूँ तो क्या बनने-बिगड़ने वाला है? तो, सुनिए मेरे भूतों की राम कहानी।

मेरा बचपन गरीबी में बीता था। इसलिए मैं समझने लगा कि बिना मेहनत-मजदूरी के दो जून खाना भी नहीं मिल सकेगा। लेकिन भाग्य मेरा (यह सौभाग्य है या दुर्भाग्य, कौन जाने) कि मैं गरीबी को ठोकर मारकर अमीरी की गोद में जा बैठा। श्रम करने की आदत तो थी, लेकिन धनवान का बेटा होकर श्रम करूँ—यह कैसे हो सकता था। मेरी इच्छा होती कि मैं श्रम करूँ, लेकिन मुझे कहा जाता कैसा मूर्ख है! ऐसा करने से अपनी इज्जत कम होती है। मैंने सोचा, चलो दोनों हाथ लड्डू हैं। श्रम से बचूँगा और इज्जत भी बढ़ेगी। धीरे-धीरे हालत यहाँ तक बढ़ गई कि नहाते समय साबुन लगाने के लिए भी एक आदमी मेरे साथ रहता। अब क्या था, आलस और प्रमाद मुझपर पूरी तरह हावी हो गये। पहले तो मुझे कुछ भी नहीं लगा, बल्कि आनन्द हुआ कि देखो मेरी सेवा हो रही है। लेकिन अब तो अनुभव हो रहा है कि वह आलस का प्रलोभन था, अपनी सेवा कराने के लिए। आज सचमुच वह आलस रूपी भूत मुझ से सेवा ले रहा है।

मैं बचपन में ज्यादा नहीं पढ़ सका। पढ़ने के साधन भी नहीं थे। भगवान जाने मुझ में अक्ल नाम की कोई चीज थी भी या नहीं, लेकिन धनी-परिवार का अंग बन जानेपर तो मेरी बुद्धि की प्रशंसा के पुल बांधे जाने लगे। इस तरह 'ठोक पीटकर' तो नहीं 'प्रेम और प्रशंसा की थपकियों' से बुद्धिमान बना दिया गया। सेठजी के पास आनेवाले मेरी प्रशंसा अपने स्वार्थ-वश करते थे कि सेठजी का पद लेनेपर मेरी दृष्टि उनपर कृपा पूर्ण रहे। साथी भी मेरी प्रशंसा करते। धीरे धीरे मुझे ऐसा लगने

लेकिन आज तो मैं स्वयं क्रोध के अधीन हूँ। मुझे ख्याल ही नहीं होता कि मैं जिन लोगों पर क्रोध करता हूँ वे क्या समझते होंगे। जब मुझे क्रोध आता है तब एकदम अविचारी बन जाता हूँ। बाद में पश्चात्ताप भी होता है, पर यह तो भूत है न। जब चढ़ता है तो सारी सुध-बुध भुला देता है।

यही हाल भूख, निद्रा, चिन्ता आदि भूतनियों का है। भूख लगती है तो कुछ खा लेता हूँ, नींद आती है तो सो लेता हूँ और चिंता को कुछ पढ़ने से हटा देता हूँ। लेकिन, आठ घंटे भी नहीं बीत पाते कि फिर भूख और नींद का दौर शुरू हो जाता है। बात-बात में चिंता मुँह फाड़ने लगती है।

इस तरह आपको क्या-क्या गिनाऊँ। इन भूतों ने मुझे इतने तरह-तरह के नाच नचाए कि मैं भी नहीं जानता। रात-दिन और सब के जीवन में इन भूतों का खेल चलता रहता है। मैंने देखा तो नहीं है, पर यदि कहीं किसी कोने में भूतों का शत्रु भगवान् छुक छिपकर बैठा हो तो, मैं विनम्र श्रद्धा के साथ, अपने मन में प्रार्थना करता हूँ कि हे मेरे देवता ! मुझे इन के फन्दे से छुड़ा ले।

"इन भूतनि मोहि नाच नचायो।" ही गुनगुनाता हूँ मैं तो। लेकिन, 'सब चोर मौसेरे भाई' की इस दुनिया में कौन मेरी प्रार्थना सुनेगा। यमराज भी मेरा ही इलाज करेंगे, भूतों के बाप का क्या बिगड़ने वाला है।

फिर सोचकर चुप हो जाता हूँ—अरे बाबा, यह सृष्टि ही 'भूतों' का पुंज है और 'भूतों' में ही मिल जाना है।

तो, ले बाबा, जिन्हें नचाना हो नचाए। वे जीत, हम हारे। झगड़ा खत्म। दुनिया चली, चल रही और चलेगी।

क्या समझदार पाठक इन भूतों को दूर करने की कोई राम बाण दवा बता सकेंगे?

: ११ :

समाज सेवा (१)

रिषभदास रांका

एक पुराने कार्यकर्ता तथा अनुभवी सज्जन के पास जब असंग्रह-नीति के आधार पर कार्य चलाने की योजना भेजी गई तब उसपर अपना मत-भेद प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा : "ध्रुवकोष के बिना कोई भी संस्था स्थिर होकर स्थायी काम नहीं कर सकती। इस लिए संस्था को मजबूत बनाने के लिए संग्रह करना आवश्यक है। इसके बाद ही कोई कार्य किया जा सकता है।"

सेवा मनोरंजन की वस्तु

कार्यकर्त्ता अपनी असफलता ही प्रकट करते हैं। ऐसे लोगों के मनोविनोद या ऑफिशियल प्रचार को कोई समाज-सेवा कहना चाहे तो वह कह सकता है। परन्तु वास्तव में यह समाज-सेवा नहीं है, बल्कि एक बोझ है जो समाज के लिए असह्य है।

सेवा बनाम चंदा

सर्व-साधारण जनता का जीवन इस समय कठिन बनता जा रहा है। महंगाई के कारण जीवनोपयोगी वस्तुओं का मिलना मुश्किल हो रहा है। बहुत-से लोग ऐसे भी हैं जिन्हें दोनों वक्त पेट-भर भोजन भी नहीं मिल पाता। उन्हें बाल-बच्चों की शिक्षा, बीमारी तथा विवाह-शादियों के अवसर पर कितनी दिक्कतें उठानी पड़ती हैं, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। लेकिन समाज-सेवा का दम भरनेवाले मुखी लोग आध्यात्मिकता के सहारे और धार्मिक भाषणों द्वारा धन की असारता बताकर चन्दा एकत्र करने में सेवा की सार्थकता समझने लगते हैं। समाचार-पत्र निकालना हो तो चन्दा, सभा का अधिवेशन होनेवाला है तो चन्दा, धर्मशाला खोलना है तो चन्दा। इस तरह न जाने कितने कामों के लिए चन्दा एकत्र किया जाता है। चन्दा एकत्र करने वाले उन्हीं के पास पहुँचते हैं जो लखपति मुखी होते हैं और जानते हैं कि पैसा दे करके वे समाज सेवा करते हैं। [illegible] इसलिए [illegible] कि घर बैठे वे समाज-सेवक कहला सकते हैं, अखबारों में उनके चित्र [illegible] सकते हैं, भवन की दीवार पर उनका [illegible] जड़ा जा सकता है। [illegible] उन्हें [illegible] और मानपत्र मिल सकते हैं, [illegible] [illegible]

सफलता का आधार कोष

दान का भी महत्त्व है और उसका निषेध नहीं हो सकता। लेकिन सच्चा दान तो वही हो सकता है जो काम की उपयोगिता देखकर स्वेच्छा पूर्वक दिया जाता है। और उसकी सार्थकता इसी में है कि जिस काम के लिए वह मिला है, उस में खर्च हो। लेकिन आज की स्थिति दूसरी है। वह संस्था असफल मानी जाती है जिसके पास फंड नहीं होता। वह कार्यकर्ता अकुशल माना जाता है जो संस्था को फंड एकत्रित करके नहीं दे सकता। कई संस्थाओं के पद उन चतुर व्याख्याताओं के लिए सुरक्षित रहते हैं जो जनता की भावनाओं को उत्तेजित कर दाताओं का गुण-गान कर, उन्हें महान् बताकर फंड जमा करने में कुशल होते हैं। और उन फंडों का उपयोग प्रायः ऐसे साहित्य के निर्माण में होता है जो संस्था की, कार्यकर्ताओं की और दाताओं की प्रशंसा के लिए लिखा होता है। देखा गया है कि फंड एकत्रित होने के बाद वहाँ स्वार्थ और ईर्ष्या का बाजार गर्म हो जाता है और सेवा के स्थानपर झगड़े होते हैं।

सेवा का स्वरूप

का अनुकरण करना चाहिए। लाखों रुपया कमानेवाले व्यापारी यदि अपने कारखानों में कुछ भाइयों को रखकर उन्हें योग्य बनावें, विद्वान यदि कुछ विद्यार्थियों को अपने पास रखें, तो लाखों-करोड़ों के फन्डों की अपेक्षा यह कई गुनी उपयोगी सेवा हो सकती है। ऐसी सेवा करनेवाले न समाज-भूषण और दानवीर कहलायेंगे, न उनके मानपत्रों और जीवन चरित्रों में कागज और स्याही बर्बाद होगी।

कार्यकर्ताओं से

ऊपर जो कुछ लिखा है, वह दूसरों को उपदेश देने के लिए नहीं, अपने कार्यकर्त्ताओं को सोचने के लिए है। दूसरों की निन्दा-टीका न करते हुए सेवा की भावना से ही यथा-शक्ति अपने तन-मन से सेवा करते रहें ऐसी अपेक्षा करना अनुचित नहीं है। हम लोगों ने यदि यह किया तो बिना ध्रुव फंड के भी हमारी संस्था बहुत कुछ कर सकेगी। यह मेरा दृढ विश्वास है और यह मैं अपने अनुभव से कहता हूँ। नीचे कतिपय घटनाओं में से एक अपने कार्यकर्त्ताओं के सम्मुख रखता हूँ। इससे वे जान सकेंगे कि हमारी प्रामाणिकता और सच्ची सेवा ही बड़ा धन है। और उसके लिए समाज के सजीव फंड (हृदय) की हमें कमी नहीं पड़ेगी।

पैसा नहीं बचा था

अक्टूबर'४९ की बात है। जैन जगत के लिए मंडल के पास एक पैसा भी नहीं बचा। २८ अक्टूबर को कार्यकारिणी की बैठक में हिसाब बताते हुए भाई जमनालालजी ने अपनी स्थिति और परेशानी व्यक्त की। सचमुच बात परेशानी की ही थी लेकिन मैं निश्चिन्त था। मुझे पूरा विश्वास था और है कि यदि हमारा काम सच्चा है और समाज के लिए उसका उपयोग है तो वह धन के अभाव में रुक नहीं सकता। कहीं-न-कहीं से उसे सहायता मिलेगी और काम चलेगा। और ऐसा ही हुआ। वे सब कमेटी

सिंहल यदि दो महीने खाली बैठे रहें तो संभव है कि परिवार उन्हें मार्मिक चिंता में डाल देगा। ऐसी स्थिति में अन्तःकरण से जो उद्‌गार और द्रव निकलता है उसका मूल्य अंकों में नहीं आंका जा सकता। मास्टर साहब वैष्णव हैं, उनका जैनधर्म के प्रति विशेष आकर्षण और संपर्क नहीं है, आदर हो सकता है। फिर भी वे जैनजगत के नियमित पाठक रहे हैं। उन्हें उस से स्वाभाविक प्रेम हो गया है; यों हम स्वयं नहीं जानते कि जैन जगत द्वारा भिन्न रूप में नाम-विशेष के धर्म और उसके अनुयायियों की कितनी सेवा कर पाते हैं, किन्तु अजैनों में भी कुछ नियमित पाठक उसकी बाट जोहा करते हैं।

उस समय पैसा तो हमारे पास था ही नहीं और कर्ज लेकर सेवा-कार्य चलाना भी उचित नहीं जँच रहा था। नाव डगमगा रही थी। इतने में एक दिन मास्टर साहब आए और उन्होंने कहा: "मैं जैनजगत को एक सौ एक रुपया सहायता देना चाहता हूँ।" सचमुच मैं तो दंग रह गया। कुछ क्षण मैं उनके चेहरे में अपने को पढ़ने लगा। मैंने कहा: "आप यह क्या कर रहे हैं मास्टर साहब!" क्यों कि मेरे आगे उन की स्थिति, धर्म भिन्नता और अपने कार्य की अनिश्चितता का चित्र स्पष्ट था। किसी करोड़पति के लाख रुपए लेकर प्रदर्शन और दिखावे में खर्च कर देना यदि बुरा नहीं माना जावेगा तो कम-से-कम इस पैसे का यदि सदुपयोग नहीं हुआ तो वह किसी पाप से कम न होगा। इसे मैं जानता था।

बड़े असमंजस और संकोच में डूबा था मैं। मांगने वाले को तो मृत्यु के समान कहा गया है, लेकिन आकर देने वाले के पुण्य में बाधक कैसे हुआ जाय! ऐसे भी नहीं बनता था। उन्होंने चेक मेरे आगे सरका ही तो दिया।

: १२ :

समाज–सेवा (२)

रिषभदास रांका

अहिंसा की व्यापकता

मैं देवी अहिंसा का सीमित शक्ति वाला एक उपासक और सेवक हूँ। यद्यपि मेरी शक्ति और पात्रता सीमित है तथापि मेरी निष्ठा और आस्था असीम है। मेरा विश्वास है कि जीवन के हर पहलू में और हर क्षण में अहिंसा का उपयोग है और उसी से सारी समस्याएँ सुलझ सकती हैं। अहिंसा से ही मानव-जीवन का विकास हो सकता है। अहिंसा की निष्ठा के कारण ही मैं उसका आचरण कर पाता हूँ। मैं तो आप सब में और भिन्न भिन्न विचार रखनेवाले समाज-सेवकों में भी अपना ही प्रतिबिम्ब देखना चाहता हूँ। क्रूर से क्रूर और हिंस्र से हिंस्र माने जानेवाले प्राणियों में भी अहिंसा का अधिष्ठान रहता है। जिस दिन जगत से अहिंसा उठ जाएगी उस दिन जगत शून्य हो रहेगा। इसलिए मैं यह कहने में असमर्थ हूँ कि अमुक एक विषय या साधन को ही अपनाया जाय।

व्यक्ति का दृष्टिकोण

प्रत्येक व्यक्ति का सेवा का दृष्टिकोण उसकी रुचि, वृत्ति, शक्ति, योग्यता और संस्कार के अनुसार होता है। और अपनी दृष्टि से वह जो कुछ करता है वह सही होनेपर भी दूसरों को स्वीकार होगा ही, यह कहना कठिन है। क्यों कि हम सब का व्यक्तित्व भिन्न भिन्न है। इसीलिए हम सब को खुले दिल से चर्चा कर के अधिकांश लोगोंकी राय जान लेना चाहिए। हमें वही करना है जो समाज के लिए उपयोगी

मार्ग से हट जाता है। उसपर हम असफलता की प्रतिक्रिया भी हो सकती है और उसका परिणाम बुरा निकलता है। इसलिए ज्ञानियों का कहना है कि अच्छे कार्यों में भी आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। आज हमने इस सदेश को भुला दिया है। थोड़ी-सी सेवा करते ही हम में यश की, नाम की, पद-प्रतिष्ठा की लालसा जाग उठती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि ऐसे तुच्छ नाम और पद के लिए ही हम लोग कार्य करते हैं। इसे सेवा के क्षेत्र में धोखा कहा गया है। और इससे हमें सावधान रहना चाहिए। तन्दुल की खेती करनेपर घास पर खुश होना यदि पागलपन है तो नाम को ही सेवा का फल मान बैठना भी बुद्धिमानी नहीं है।

नाम और काम

ज्ञानियों ने नाम और यश को अस्थिर और नाशवान माना है। लेकिन लोकैषणा—अच्छा कहलाने की वृत्ति—सब में रहती ही है। और यह स्वाभाविक है। इसे जबर्दस्ती दूर भी नहीं किया जा सकता। जबर्दस्ती से की जानेवाली चीज हार्दिक न होने के कारण स्थायी और जीवन-व्यवहार की नहीं हो पाती। फिर भी नाम के लोभ में हम लोग काम को एकदम भूले जा रहे हैं अथवा नाम को ही काम मान बैठे हैं। समाज-सेवा का जब ज़िकर निकलने बाले अखबारों में जब नाम और दाम की सुर्खी पढ़ने में आती है तब सहज ही ध्यान में आता है कि आज वास्तविक काम कहाँ रह गया है। हमें सोचना है कि काम और नाम में कौन उपयोगी है और दोनों का क्या महत्त्व है, अथवा किसका स्थान है।

व्यष्टि हित में समष्टि हित

प्रायः देखा जाता है कि लोग मान या बड़ाई की जिम्मेदारी दूसरों पर डालते रहते हैं। मानने, बोलने और लिखने में कोई किसी से कम नहीं रहता। हम यह मानकर चलते हैं कि उपदेश की दूसरों को जरूरत है और [illegible] भी करना है। यह हमारे [illegible] बिल्कुल [illegible]

बात है। हम जिस धर्म के अनुयायी हैं उसमें तो अपने ही उद्धार या कल्याण को अधिक महत्त्व दिया गया है। दूसरों की अपेक्षा अपने आपको जीतना बड़ी बात है। जिनेश्वर को हम इसीलिए भगवान् कहते हैं कि वे अपने आप पर विजय प्राप्त करते हैं। मुझे सन्देह है कि हम भगवान का रास्ता छोड़कर कहीं शैतान के रास्तेपर तो नहीं बढ़ रहे हैं! हम यदि अपना सुधार करलें और जीवन में सचाई ले आवें तो अपने आप समाज का सुधार हो जायेगा। व्यष्टि-हित में ही समष्टि-हित समाया हुआ है। मैं समझता हूँ हमारी सारी उलझनें इसीलिए हैं कि हम स्वयं कुछ न कर दूसरों से अपेक्षा रखते हैं।

उपदेश देना नास्तिकता है

संसार में ज्ञान की कमी नहीं है। आत्मा प्रत्येक में है। आत्मा का लक्षण ही ज्ञान और चेतना है। बाहर से भले ही तुलना में एक-दूसरे के ज्ञान में भिन्नता या न्यूनाधिकता दिखती हो; किन्तु आत्म-विकास के लिए सब में पर्याप्त ज्ञान रहता है। इसलिए मैं तो मानता हूँ कि दूसरे को उपदेश करना नास्तिकता है अथवा आत्मा के अस्तित्व में अविश्वास करना है। एक साधक या विकास मार्ग का पथिक किसी से अनुभव तो पूछ सकता है, लेकिन अपने विकास का मार्ग जितना स्पष्ट उसे दिखता है, उतना दूसरे को नहीं। इसलिए महान् आत्माएँ कभी यह नहीं कहतीं कि अमुक मार्ग से ही चलो। उनका काम विवेक को जगा देना होता है और शक्ति से परिचित करा देना। ज्ञानियों ने कहा है कि दूसरों को करने के लिए कहने की चिन्ता रखने की अपेक्षा लेखकों को अपने करने की चिन्ता रखनी चाहिए। दूसरों को उपदेश देना मोह ही है। उस से बचे [illegible]। यदि लोगों को विश्वास हो जाए कि हमारा काम अच्छा है और [illegible] है [illegible] वे अपने आप बिना कहे भी उस अपना [illegible] रहा इसी अर्थ में अन्यों [illegible] लोगों के

कुछ होना-जाना नहीं है—मधुर वाणी से और माया से किसी को मुग्ध भले ही कर लिया जाय।

हम सब मिलकर कार्य करें

यह लोक-तंत्र का युग है। इसमें किसी भी विषय का निर्णय अल्पमत और बहुमत के आधार पर ही किया जाता है। लेकिन इस अल्प और बहुमत के झगड़े ने हमें चक्कर में डाल दिया है। मनुष्य यदि अपने मत को हठाग्रह का रूप न दे, तब तो यह एक अच्छा मार्ग है। लेकिन देखा यह गया है कि इससे दलबन्दियाँ बढ़ती हैं। फूट को उत्तेजना मिलती है। इसलिए हमें ऐसे कामों को हाथ में लेना चाहिए जिनके कारण मत-गणना का अवसर ही न आए और यदि आए भी तो सद्भावना नष्ट न होने पाये। सारे कार्य सर्वानुमति से होने चाहिए। मत-गणना और चुनाव ने ऐसा विष फैल रहा है कि भाई भाई का शत्रु बनता जा रहा है, मित्र की मित्रता टूटी जा रही है। वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए कुछ विचारकों ने मान लिया है कि मत देना अपने आपको कीचड़ में फँसाना है और आगे से वे किसी को अपना मत नहीं देंगे। ऐसे ही कार्यों का चुनाव होना चाहिए जिन्हें हम एक मत से स्वीकार कर सकें। इससे हमारे कार्य में तेज प्रगट होगा। हमें काम करना है, फूट नहीं फैलानी है।

जातिवाद और हमारा लक्ष्य

यह बात बिल्कुल सही है कि जातिवाद का विष इन दिनों बहुत बढ़ रहा है। वह राष्ट्रीय शान्ति के लिए घातक है। हर जाति अपने में [illegible] जाति को अपनी भलाई में बाधक मानकर दूसरे के मार्ग में बाधक बनती जा रही है। प्रान्त, भाषा और जाति के इन झगड़ों की दिशा [illegible] जैन समाज को भी स्पर्श कर गई है। [illegible]

में भी दो-चार गाँवों में मैं खेती करता हूँ। इस बात का मैं पूरा ध्यान रखता हूँ कि मेरी खेती बढ़िया हो, फसल खूब हो। स्वाभाविक ही है कि इस तरह मेरी खेती दूसरों की अपेक्षा कुछ अच्छी ही होती है। मेरी खेती से अधिक आमदनी होते देखकर दूसरों ने भी अपनी खेती पर ध्यान देना शुरू किया और अब सारे गाँव की खेती बढ़िया होने लगी है। इस तरह यदि एक व्यक्ति, परिवार, जाति या प्रान्त का काम स्वयं अपनी सीमा के लिए अच्छा होता है तो उसका लाभ दूसरों को भी मिले बिना नहीं रह सकता। जिसकी नींव में भलाई है ऐसी साम्प्रदायिकता को मैं संकीर्णता से परे मानता हूँ।

समय अनुकूल है

हम सब को समाज की भलाई किस तरह की जाय, यह सोचना है। हमारे सामने सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि जीवन-निर्वाह सुख से कैसे किया जाय। यह प्रश्न यों तो मनुष्य के समान प्राचीन है। किन्तु हर समय भूत-काल अच्छा और वर्तमान कठिन ही कहा जाता रहा है। और निरन्तर भविष्य के सुख की आशा में संगठन पर जोर दिया जाता रहा है। महगाई बढ़ गई है, खर्च बढ़ गया है, जीवन-निर्वाह मुश्किल और चिन्ता-प्रद बन गया है। फिर भी मेरा तो खयाल है कि ऐसा समय इतिहास के हजारों वर्षों में नहीं आया। हम स्वतंत्र हुए और अहिंसा से। दो दो महायुद्ध से सतप्त होकर आज विश्व शान्ति को ढूंढ रहा है। अहिंसा धर्मियों के लिए यह अपूर्व अवसर है कि वे अपने कार्यक्षेत्र को विस्तृत करें और शान्ति के पिपासुओं को अहिंसा का झरना बतावें। लेकिन यह केवल दूर से उंगली बताने से नहीं होगा। निजी अहिंसक आचरण द्वारा ही हम विश्व को अहिंसा का पाठ पढ़ा सकेंगे।

भय हिंसा है

भयभीत रहकर संगठन करने की बात जँचती नहीं। डर में रक्षा का भाव है, और उसके लिए हिंसा मूलक संगठन भी आवश्यक हो जाता

एक उदाहरण

छोटे-छोटे राज्य जब खत्म हुए तब बहुत से लोग बेकार हो गए। मध्य भारत के एक छोटे से राज्य की राजधानी में एक भाई रहते थे। ३० या ४० रु० उनका वेतन था और निजी मकान था। नौकरी तथा दो-एक मवेशियों के पालन से गृहस्थी चल जाती थी। बड़ा शहर था नहीं। किसी तरह काम चल रहा था। अब अदालत बन्द होने से नौकरी छूटी और नौकरी की तलाश में घूमते फिरे। उनकी स्थिति को देखकर मेरे एक सेवा-भावी मित्र को उनपर दया आगई। एक शहर में ७५ रु० की नौकरी उन्हें दिला दी। वहाँ वे नौकरी करते हैं वहां से तो ५० रु० ही मिलते हैं, २५ की पूर्ति मित्र अपने पास से करते हैं। लेकिन ७५ रु० पाकर भी वे सुखी नहीं हैं। कुछ समय बाद मेरे मित्रको दिखाई दिया कि उस बेचारे का गाँव न छुड़ा कर वहीं किसी धंधेपानी से लगा दिया जाता तो कदाचित् मेरे २५ रु० उस के लिए उपयोगी बन पड़ते।

कार्य की सहायता ही आदमी को सशक्त बनाती है

तो, मैं कह यह रहा था कि केवल पैसा ही किसी के जीवन को ऊँचा नहीं उठा सकता। जो भाई और युवक काम चाहते हैं उन्हें अपने पास रखकर यदि समर्थ लोग योग्य बनावें और काम-धंधे से लगा देवें तो बहुत बड़ी सेवा होगी। पैसे की सहायता बला टालने से कम नहीं है। और इस से आदमी और भी अधिक बेकार और आलसी बनता है। काम सिखाकर उद्योग में लगवा देना ऐसी सहायता है जो पानेवाले को सशक्त और साहसी बनाती है। अब वह समय नहीं रहा कि श्रमको हल्का समझा जाय। बुद्धि और श्रमका यदि हम एक साथ उपयोग कर सकें तो हमारा भविष्य उज्ज्वल है—चिन्ता करने की कोई बात नहीं।*

---

*ओसवाल हाथ-करघा सम्मेलन [illegible] दिया गया अध्यक्षीय भाषण

: १३ :

व्यापार और अहिंसा

जमनालाल जैन

अगर हम अहिंसा को आत्मा कहें तो व्यापार शरीर कहा जा सकता है। बुद्धि आत्मा को चाहिए और रोटी शरीर को। यह जगत् है कि इसमें नाना तरह के वाद और विवाद हैं। एक कहता है कि जड़ का मोह छूटता है और ये शरीर के सम्बन्ध मिथ्या हैं। दिखाई देने वाला जगत् का रूप और वैभव क्षणिक और अशाश्वत है। सूत्र में कह दिया गया कि जगत् माया है। लेकिन बुद्धि चुप नहीं थी। उसने कहा—"नहीं, जगत् माया नहीं है। ईश्वर स्वयं भोगा है।" जो प्रत्यक्ष है और जिसका उल्लेख है, उसके बिना उसकी सचाई को अस्वीकार कैसे किया जा सकता है!

अध्यात्मवाद आत्मा को लेकर चला और उसने भौतिकवाद को तुच्छ, हेय, क्षणिक और दुःख का कारण बतलाया। यह बड़े अचरज की बात है कि अध्यात्मवाद का प्रभाव संसार के अधिकांश लोगोंपर बहुत गहरा स्थापित हुआ है। कम-से-कम विचारों में तो अध्यात्मवाद अपनी सत्ता जमा हुआ है। यह कैसे हुआ, इसका ऐतिहासिक अन्वेषण यदि किया जाय तो बड़ी रोचक सामग्री पढ़ने को मिल सकती है। मुझे तो ऐसा लगता है कि अध्यात्मवादियों में कुछ ऐसे गुण थे कि वे अपने कार्य में बहुत सफल हो सके। अध्यात्मवाद का सर्व प्रथम अस्त्र है—मरण या परिवर्तन। मरण या परिवर्तन का चित्र प्रस्तुत कर आदमी को जल्दी ही वश में किया जा सकता है। हर आदमी जानता है, देखता है और समझता है कि उसके पूर्वज मरे हैं, उसकी वस्तुएँ नष्ट हुई हैं, उसकी अवस्थाओं में परिवर्तन हुआ है।

ऊपर सट्टे का जिक्र आया है। आज नगर-नगर और गाँव-गाँव बल्कि गली-गली में स्त्री और पुरुष, बच्चे और बूढ़े सट्टे के पीछे पड़े हुए हैं। एक दिन चर्चा करने पर एक भाई ने, जो खादीधारी हैं, कहा—'टेलोजी, सट्टे जैसा प्रामाणिक धन्धा और कोई नहीं है। न उसमें पूँजी की जरूरत है, न दुकान की, न बही खातों की, न लिखा-पढ़ी की। दिन भर परेशान भी नहीं होना पड़ता, रात में भी हम दो-चार घण्टे यह काम करते हैं और यह सारा काम विश्वास के बल पर चलता है। झूठ और हिंसा को तो इस में कतई स्थान नहीं है। आप के यहाँ तो बही-खातों में तथा कागज-पत्रों में लिखा-पढ़ी होने पर भी लोग लेन-देन में परेशान होते हैं, झूठ बोलते हैं।

मैं सुन ही सकता था, बोलता क्या? बेचारे दो या चार, आठ या दस रुपयों पर सौ सौ की जोखम उठाते हैं, रात के दो-दो बजे तक जागते हैं, और दूसरे दिन चुपके चुपके सारा भुगतान भी कर चुकते हैं। अचरज है कि अपने को प्रामाणिक कहनेवाला सटोरिया भी कानून से बचकर चलना चाहता है। प्रामाणिकता में तो साहस होता है पर यहाँ तो भय विराजित है। मैं मानता हूँ कि जहाँ भय होता है, वहाँ सचाई नहीं रहती और अहिंसा भी नहीं रहती। सट्टे का धन्धा देखने में कितना ही प्रामाणिक प्रतीत हो और उसमें जीवों की हिंसा न होती हो; पर है वह प्रथम श्रेणी का हिंसक धन्धा। कारण, इसमें फँसा हुआ आदमी आलसी, निकम्मा और लोभी बनता जाता है। अपने भाग्य को परखने की ओट में यह चाहता है कि दूसरों की जेब का सैकड़ों रुपया उसकी तिजोरी में आ जाय। इस लूट का नाम अगर भाग्य है तो उस दान को भी पुरुषार्थ कहना चाहिए जो स्वर्ग पाने की रिश्वत में दिया जाता है।

आज के व्यापार की यही हालत है। जीवों की हिंसा से तो बचा गया, पर अहिंसा उसमें नहीं आ पाई। अन्न और वस्त्र के बिना किसी

ा बन सका है ऐसा कोई दीखा नहीं। अहिंसा के महाव्रती साधु के तो उसे भी भोजन के कौर पड़ते ही हैं। पानी वे छना ही पीते हैं। छनने का साधन वस्त्र है। पर अचरज है कि अन्न और वस्त्र के उत्पादन को वे निकृष्ट और हिंसक बतलाते हैं। माना, कि खेती में जीव-हिंसा होती है, पर उसकी मर्यादा है, उपयोगिता है, अनिवार्यता है और विवशता है। और फिर हिंसा कहाँ नहीं होती? रहने को मकान चाहिए, पीने को सड़क चाहिए, बोलने में श्वासोच्छ्वास भी चलता है। मैं नहीं समझता कि इन सब क्रियाओं में बिना हिंसा के काम चल जाता है। भोजन बनता है, उस के लिए भी चूल्हा सिलगाना पड़ता है। मेरा ख्याल है कि अन्न उत्पादन की अपेक्षा भोजन तैयार करने में अधिक जीव-हिंसा होती है। इस तैयार भोजन को आग ठण्डी करके किया जाय या चाहे जिस तरह; दोनों की वह हिंसा तो हो चुकी। तब क्या अहिंसा का महाव्रती भी महान् हिंसक नहीं हो जाता? नहीं, वह नहीं हो सकता, न होना चाहिए। क्योंकि यह अनिवार्यता है और दृष्टि इस में हिंसा की नहीं है।

इसी तरह कृषि को भी हिंसक उद्योग नहीं कहा जा सकता। मुझे तो ऐसा लगता है कि इसे हिंसक कहने वाला भी भारी हिंसक है। अगर भोजन ग्रहण करनेवाला साधु हिंसक नहीं हो जाता तो उसे पैदा करनेवाला कैसे हिंसक बन जाय? सच बात तो यह है कि ज्यों ज्यों आदमी के पास पैसा बढ़ता गया, श्रम और प्रामाणिकता उससे दूर होती गई और वह [illegible]

तथा परिग्रह को पुष्ट करनेवाली अहिंसा भी क्या हिंसा नहीं है ! वही व्यापार अहिंसक हो सकता है जिससे राष्ट्र की शक्ति बढ़ती है, मनुष्य के स्वावलम्बन का विकास होता है। केवल जीवों की हिंसा से बचानेवाली अहिंसा, अहिंसा नहीं बल्कि अहिंसा की विडम्बना है। और इस दृष्टि से किया जानेवाला व्यापार, व्यापार नहीं बल्कि लूट है, अत्याचार है।*

---

* अहिंसा को हमें व्यापक अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। अहिंसा का अर्थ मैं तो ऐसा करता हूँ कि जो कर्म प्रमाद, असावधानी और स्वार्थ के वशीभूत होकर किया जाता है और जिस कर्म से राष्ट्र का कोई हित नहीं होता, वह हिंसामय ही है—उस में जीवों का घात हो या न हो। आज तो हमारी अहिंसा हिंसा से बढ़ कर खतरनाक हो गई है। इस अहिंसा की विडम्बना पर क्या कभी रोक लगेगी !

हमारे आगामी प्रकाशन

शीघ्र ही निकल रहे हैं

पहले मूल्य भेजकर ग्राहक बननेवालों को पौने मूल्य में

जीवन-जौहरी–स्व० जमनालालजी बजाज की व्यावसायिक सामाजिक सफलता तथा निर्भीक व्यक्तित्व पर प्रकाश डालनेवाली पुस्तक जिसे स्कूल और कालेजों से निकलने वाले तरुणों को व्यवसाय उद्योग के क्षेत्र म प्रवेश करने पर प्रामाणिक मार्गदर्शन करेगी। जमनालालजी के जीवन की कुछ प्रभावात्मक घटनाएं और संस्मरण।

पृष्ठ १५०, मूल्य सजिल्द ११

तत्त्व समुच्चय–डा० हीरालालजी जैन एम. ए. डी. लिट्।

दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन प्राकृत ग्रन्थों के आधार पर जैनधर्म और आचार का प्रामाणिक परिचय। गीता जैसे व्यवस्थित और सुंदर संकलन।

तत्त्वार्थ सूत्र–पं० सुखलालजी। यह महान् कृति जैनोंके सर्व सम्प्रदायों में समान रूप से आदृत है। ऐतिहासिक तथा दार्शनिक समीक्षा से समन्वित यह टीका कई जगह पाठ्य-क्रम में है।

पृष्ठ लगभग ५०० । मूल्य ४)

समाज और जीवन–संपादक जमनालाल जैन। इस में समाज और जीवन को स्पर्श करने वाले अनुभवी विद्वानों के चिन्तन प्रधान लेखों का संग्रह है। पृष्ठ १०० । मूल्य १)

धर्म और संस्कृति–संपादक जमनालाल जैन। इस में धर्म और संस्कृति पर विभिन्न दृष्टिकोणों को लेकर हमारी समस्याओं को स्पर्श किया गया है। यह भी लेखों का संग्रह है। पृष्ठ १०० । मूल्य १)

गीता प्रवचन–आचार्य विनोबा

श्रीमद्भगवद्गीतापर विनोबाजी के मार्मिक और गंभीर प्रवचनों का मराठी भाषासे संग्रह। पृष्ठ लगभग २५० । मूल्य १॥)

भारत जैन महामण्डल,